ॐ

परमात्मने नमः

श्री कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन श्रुत निधि, पुष्प-२

श्रीमद् पूज्यपादस्वामी विरचित

इष्टोपदेश

मूल श्लोक, हिन्दी पद्यानुवाद, एवं
पण्डित आशाधर द्वारा रचित संस्कृत टीका के
गुजराती अनुवाद का हिन्दी रूपान्तर

गुजराती अनुवाद :
छोटालाल गुलाबचन्द गाँधी
सोनासण (गुजरात)

हिन्दी अनुवाद :
देवेन्द्रकुमार जैन
बिजौलियां, जिला-भीलवाड़ा (राज०)

प्रकाशक :

- श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, मुम्बई
- पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर
- श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट, अलीगढ़

प्रथम आवृत्ति – 2000 प्रतियाँ

[श्री आदिनाथ दिगम्बर जिनबिम्ब पञ्च कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, (दिनांक 21 फरवरी से 27 फरवरी 2012) श्री टोडरमल स्मारक भवन, जयपुर के अवसर पर]

ISBN No.- 978-93-81057-07-0

लागत मूल्य – 45 रुपये
विक्रय मूल्य – 20 रुपये

प्राप्ति स्थान :

1. **श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट,** सोनगढ़ (सौराष्ट्र)–364250, फोन : 02846–244334
2. **श्री कुन्दकुन्द–कहान पारमार्थिक ट्रस्ट**
   302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, वी. एल. महेता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई–400056
   फोन (022) 26130820
   Email - vitragva@vsnl.com
3. **पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट,** ए–4, बापूनगर, जयपुर–302015 (राज.) फोन : (0141) 2707458
4. **श्री आदिनाथ–कुन्दकुन्द–कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट**
   तीर्थधाम मङ्गलायतन, अलीगढ़–आगरा मार्ग, सासनी–204216 (उ.प्र.)
   Email - info@mangalayatan.com
5. **पूज्य श्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट,** कहान नगर, लाम रोड, देवलाली–422401,
   फोन : (0253) 2491044
6. **श्री परमागम प्रकाशन समिति,** श्री परमागम श्रावक ट्रस्ट, सिद्धक्षेत्र, सोनागिरजी, दतिया (म.प्र.)
7. **रत्नत्रय तीर्थ ध्रुवधाम,** पोस्ट–कूपड़ा, जिला–बाँसवाडा (राज.)
8. **तीर्थधाम सिद्धायतन,** पोस्ट–द्रोणागिर, जिला–छतरपुर (म.प्र.)
9. **श्री वीतराग–विज्ञान स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट,** पुरानी मण्डी, सेन्ट्रल बैंक के ऊपर, अजमेर (राज.)
10. **आत्मसाधना केन्द्र, आत्मार्थी ट्रस्ट,** रोहतक रोड, घेवरा मोड, दिल्ली

मुद्रक : देशना कम्प्यूटर्स, जयपुर

प्रकाशकीय

परमपूज्य **देवनन्दि,** अपरनाम **पूज्यपादस्वामी** द्वारा रचित **'इष्टोपदेश'** नामक ग्रन्थ का प्रकाशन करते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। इस ग्रन्थ में आचार्यदेव ने आत्मा को इष्ट / हितकारी मुक्तिमार्ग का उपदेश दिया है। इसलिए इस ग्रन्थ का इष्टोपदेश सार्थक नाम है। इस शास्त्र पर श्री पण्डित आशाधर द्वारा संस्कृत भाषा में सरल, सुबोध टीका की रचना की गयी है, जिसका हिन्दी अनुवाद करके प्रस्तुत ग्रन्थ प्रकाशित किया जा रहा है।

आत्मा का हित सुख है और सुख आकुलतारहित होता है। आकुलता मोक्ष में नहीं है, इसलिए मोक्षमार्ग का प्रयत्न करना प्रत्येक आत्मार्थी का कर्तव्य है। वर्तमान काल में मुक्तिमार्ग पथप्रदर्शक आत्मज्ञ सन्त **पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी** के भवतापनाशक अमृतमय प्रवचनों से मुमुक्षुओं को मुक्ति का मार्ग अत्यन्त सुलभ हो रही है, यह हमारा सद्भाग्य है। पूज्य गुरुदेवश्री ने इस ग्रन्थ पर 45 आध्यात्मिक प्रवचन प्रदान करके इसमें निहित आध्यात्मिक रहस्यों से सम्पूर्ण जगत को परिचित कराया है। पूज्य गुरुदेवश्री के ये प्रवचन शब्दश: **'इष्टापेदश प्रवचन भाग 1 व 2'** नाम से प्रकाशित हुए हैं, साथ ही अपने अनेक प्रवचनों में पूज्य गुरुदेवश्री इस ग्रन्थ की 35वीं गाथा के आधार पर कारण-कार्य व्यवस्था को अत्यन्त स्पष्टरूप से समझाते रहे हैं। जिसमें कहा गया है कि किसी भी कार्य के होने में उसकी योग्यता ही साक्षात् कारण है निमित्त तो धर्मास्तिकायवत् ही समझना चाहिए।

यह भी एक सुखद संयोग ही है कि इस ग्रन्थ का प्रकाशन, पूज्य गुरुदेवश्री के प्रभावना उदय से स्थापित मुमुक्षु समाज की तीन संस्थाओं — **श्री कुन्दकुन्द कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, मुम्बई; पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर एवं श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट, अलीगढ़** द्वारा संयुक्तरूप से किया जा रहा है।

पूज्य गुरुदेवश्री की सदेह अनुपस्थिति के पश्चात् यह अनुभव किया जा रहा था कि मूल ग्रन्थों का प्रकाशन प्राय: नगण्य मात्रा में हो रहा है। इसका कारण यह है कि इन ग्रन्थों के प्रकाशन में जहाँ लाखों रुपयों की धनराशि की आवश्यकता होती है, वहीं शुद्ध प्रमाणिक प्रकाशन भी अनिवार्य है। इस कमी की पूर्ति हेतु तीर्थधाम मङ्गलायतन में आयोजित पुरुषार्थमूर्ति निहालचन्द्र सोगानी की जन्मशताब्दी के अवसर पर तीनों संस्थाओं द्वारा मूल ग्रन्थों के प्रकाशन की जिम्मेदारी संयुक्तरूप से ली गयी है। जिसकी घोषणा उक्त अवसर पर उपस्थित मुमुक्षु समाज के सामने तो

की ही गयी थी, साथ ही पत्र–पत्रिकाओं के माध्यम से भी यह सूचना सम्पूर्ण समाज की जानकारी हेतु प्रकाशित की गयी है। इस योजना के अन्तर्गत आचार्य भगवन्तों एवं ज्ञानी विद्वानों द्वारा रचित मूल आगम ग्रन्थों का प्रकाशन किया जायेगा। किसी भी ग्रन्थ के प्रकाशन सम्बन्धी निर्णय हेतु एक पाँच सदस्यीय कमेटी का निर्माण किया गया है, जिसमें — डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल, जयपुर; श्री अनन्तराय ए. सेठ, मुम्बई; श्री पवन जैन, अलीगढ़; बाल ब्रह्मचारी हेमन्तभाई गाँधी, सोनगढ़ एवं पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियां (राजस्थान) सम्मिलित हैं।

इस वर्ष 21 से 27 फरवरी तक श्री टोडरमल स्मारक भवन, जयपुर में आयोजित श्री आदिनाथ दिगम्बर जिनबिम्ब पञ्च कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव के अवसर पर प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रकाशन हमारे लिए अत्यन्त प्रसन्नता का विषय है और यह कार्य अनवरतरूप से चलता रहेगा – ऐसा पूर्ण विश्वास है।

प्रस्तुत ग्रन्थ एवं उसकी संस्कृत टीका का गुजराती अनुवाद श्री छोटालाल गुलाबचन्द गाँधी, सोनासण (गुजरात) द्वारा किया गया है। जो पूज्य गुरुदेवश्री की उपस्थिति में श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा गुजराती भाषा में अनेकों बार प्रकाशित हुआ है। प्रस्तुत गुजराती संस्करण का हिन्दी अनुवाद पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियां (राजस्थान) द्वारा किया गया है। जिसका प्रथम संस्करण श्री कुन्दकुन्द–कहान दिगम्बर जैन तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट, मुम्बई द्वारा प्रकाशित किया गया था। वर्तमान प्रकाशन में उसी को आधार बनाते हुए आवश्यक संशोधन करते हुए यह नवीन संस्करण प्रकाशित किया जा रहा है। तदर्थ हम अपने सहयोगियों के प्रति आभार व्यक्त करते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ के लागत मूल्य को कम करने हेतु पचास प्रतिशत सहयोग श्री कुन्दकुन्द–कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, मुम्बई द्वारा प्रदान किया गया है। साथ ही अन्य सहयोगियों की सूची इसी ग्रन्थ में प्रकाशित है।

सभी आत्मार्थीबन्धु इस ग्रन्थ का स्वाध्याय करके निज आत्महित साधें – इस पवित्र भावना के साथ।

निवेदक

ट्रस्टीगण

श्री कुन्दकुन्द कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, मुम्बई

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर

श्री आदिनाथ–कुन्दकुन्द–कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट, अलीगढ़

प्रस्तावना

ग्रन्थकार एवं ग्रन्थ परिचय

ग्रन्थकार श्री पूज्यपादस्वामी

प्रस्तुत ग्रन्थ 'इष्टोपदेश' के रचयिता श्री पूज्यपादस्वामी मूलसंघ के अन्तर्गत नन्दिसंघ के प्रधान आचार्य थे। वे सुप्रसिद्ध बहुप्रतिभाशाली, प्रखर, तार्किक विद्वान और महान तपस्वी थे।

समय – श्रवणबेलगोला शिलालेख नं. ४०(१०८) में उल्लेख है कि वे श्री समन्तभद्राचार्य के बाद हुए हैं और वे आचार्यश्री के मतानुयायी थे।

उन्होंने अपनी 'जैनेन्द्र व्याकरण' में **'चतुष्टयं समन्तभद्रस्य'** (५-४-१६८) — ऐसा उल्लेख किया है, जो यह बताता है कि समन्तभद्राचार्य उनके पूर्वगामी थे।

विद्वानों के मतानुसार समन्तभद्राचार्य, ईस्वी सन् २०० में हो गये हैं।

श्री भट्टाकलंकदेव ने (समय ईस्वी सन् ६२० से ६८०) अपनी तत्त्वार्थराजवार्तिक में तथा श्री विद्यानन्दि ने (समय ईस्वी सन् ७७५-८००) अपनी तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक टीका में श्री पूज्यपाद द्वारा रचित सर्वार्थसिद्धि के वाक्यों का उल्लेख और अनुसरण किया है। इससे अनुमान होता है कि श्री पूज्यपादस्वामी, भट्टाकलंकदेव के पूर्व, अर्थात् सन् ६२० से पूर्व होने चाहिए।

इन दोनों प्रमाणों से सिद्ध होता है कि वे सन् २०० से ६२० के मध्यकाल में हो गये हैं।

शिलालेख एवं उपलब्ध जैनसाहित्य से विद्वानों ने निश्चय किया है कि यह सुप्रसिद्ध आचार्य, विक्रम की पाँचवीं-छठवीं शताब्दी में हो गये हैं।

निवास स्थान और माता-पितादि – श्री पूज्यपादस्वामी कर्नाटक क्षेत्र के निवासी थे। उनके पिता का नाम माधवभट्ट और माता का नाम श्रीदेवी उल्लिखित है। वे ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे।

देवसेनाचार्य कृत दर्शनसार में लिखा है कि उनके एक वज्रनन्दी शिष्य ने विक्रम संवत् ५२६ में द्रविड़ संघ की स्थापना की थी।

नाम – उनका दीक्षा नाम देवनन्दी था और बाद में वे पूज्यपाद, जिनेन्द्रबुद्धि आदि अपर नामों से लोक में प्रसिद्ध हुए।

इस सन्दर्भ में श्रवणबेलगोला के शिलालेख नं. १०५ (२५४) शक संवत् १३२० द्रष्टव्य है।

यो देवनन्दिप्रथमाभिधानो बुद्ध्या महत्या स जिनेन्द्रबुद्धिः।
श्री पूज्यपादोऽजनि देवताभिर्यत्पूजितं पादयुगं यदीयम्॥

प्रागभ्यधायि गुरुणा किल देवनन्दी, बुद्ध्या पुनर्विपुलया स जिनेन्द्राबुद्धि।
श्री पूज्यपाद इति चैव बुधैः प्रचख्ये, यत्पूजितः पदयुगे वनदेवताभिः॥

उपरोक्त लेखों से ज्ञात होता है कि आचार्यश्री तीन नाम — देवनन्दि, जिनेन्द्रबुद्धि, और पूज्यपाद — से प्रसिद्ध थे। 'देवनन्दि', यह उनका गुरु द्वारा प्रदत्त दीक्षा नाम है; बुद्धि की प्रकर्षता - विपुलता के कारण उन्होंने 'जिनेन्द्रबुद्धि' नाम प्राप्त किया और उनके चरणयुगल की देवताओं ने पूजा की थी, इसलिए बुधजनों ने उन्हें 'पूज्यपाद' नाम से विभूषित किया।

जीवन की अद्भुत घटनाएँ

निम्न शिलालेख उनके जीवन पर स्पष्ट प्रकाश डालते हैं —

श्रीपूज्यपादोद्धृतधर्मराज्यस्ततः सुराधीश्वरपूज्यपादः।
यदीयवैदुष्यगुणानिदानीं वदन्ति शास्त्राणि तदुद्धृतानि॥
धृतविश्वबुद्धिरयमत्र योगिभिः कृतकृत्यभावमनुविभ्रदुच्चकैः।
जिनवद् बभूव यदनङ्गचापहृत्स जिनेन्द्रबुद्धिरिति साधुवर्णित्तः॥

[शि०ले० नं० १०८ (२५८; शक सं. १३५५)]

श्रीपूज्यपादमुनिरप्रतिमौषधर्द्धि र्जीयाद्विदेहजिनदर्शनपूतगात्रः।
यत्पादधौतजलसंस्पर्शप्रभावात् कालायसं किल तदा कनकीयकार॥

[शि०ले० नं० १०८ (२५८)]

उपरोक्त शिलालेखों में वर्णन किया है कि — श्री पूज्यपादस्वामी ने धर्म-राज्य का उद्धार किया, देवों के अधिपतियों ने उनका पाद-पूजन किया; इसलिए वह पूज्यपाद कहलाये। उनके द्वारा उद्धार प्राप्त शास्त्र आज भी उनके विद्या विशारद गुणों का कीर्तिमान करते हैं। वे जिनवत् विश्वबुद्धि के धारक थे, अर्थात् समस्त शास्त्र विषयों में पारंगत थे, उन्होंने कामदेव को जीता था; इसलिए कृतकृत्य भावधारी उच्चकोटि के योगियों ने उनका 'जिनेन्द्रबुद्धि' नाम से वर्णन किया है।

तथा इस शिलालेख में ऐसा भी उल्लेख है कि —

(१) वे अद्वितीय औषधऋद्धि के धारक थे।

(२) विदेहक्षेत्र स्थित जिनेन्द्र भगवान के दर्शन से पवित्र हुए थे।

(३) उनके चरणोदक के स्पर्श से एक बार लोहा भी सोना बन गया था।

तदुपरान्त घोर तपश्चर्यादि से उनकी आँख का तेज नष्ट हो गया था, परन्तु शान्त्यष्टक के एकाग्रतापूर्वक पाठ से पुनः नेत्र तेज प्राप्त हुआ था।

महा योगियों के लिये ऐसी घटनाएँ असम्भवित नहीं हैं।

ग्रन्थ रचना –

श्री पूज्यपादस्वामी ने जिन ग्रन्थों के रचना की है, उनमें जैनेन्द्र व्याकरण, शब्दावतार, समाधितन्त्र, इष्टोपदेश आदि ग्रन्थ प्रमुख स्थान पर हैं। निम्न शिलालेख से उनके द्वारा रचित ग्रन्थों का परिचय प्राप्त होता है —

जैनेन्द्रं निजशब्दभागमतुलं सर्वार्थसिद्धिः परा,
सिद्धान्ते निपुणत्वमुद्धकवितां जैनाभिषेकः स्वकः।
छन्दः सूक्ष्मधियं समाधिशतकं स्वास्थ्यं यदीयं विदा-
माख्यातीह स पूज्यपादमुनिषः पूज्यो मुनीनां गणैः ॥४॥

जिनका 'जैनेन्द्र' व्याकरण शब्द शास्त्रों में अपने अनुपम स्थान को; 'सर्वार्थसिद्धि' सिद्धान्त में परम निपुणता को; 'जैनाभिषेक' उच्चतम काव्यता को; 'छन्द शास्त्र' बुद्धि की सूक्ष्मता (रचना चातुर्य) और 'समाधिशतक', स्वात्मस्थिति (स्थित प्रज्ञता) संसार में विद्वानों के प्रति प्रसिद्ध करते हैं, वे पूज्यपाद मुनिन्द्र, मुनिगणों से पूजनीय है।

१. जैनेन्द्र व्याकरण

यह संस्कृत व्याकरण का ग्रन्थ है, इसके सूत्रों के लाघवादी के कारण उसका महत्व बहुत है और इस कारण उसे लोक में अच्छी प्रतिष्ठा प्राप्त की है। भारत के आठ प्रमुख शाब्दिकों में इस व्याकरण के कर्ता श्री पूज्यपादस्वामी की अच्छी गणना है।

सर्वव्याकरणे विपश्चिदधिपः श्रीपूज्यपादः स्वयम्।

[शि. ले. नं. ४७, ५०]

जैनेन्द्रे पूज्यपादः।

[शि. ले. नं. ५५]

सर्व व्याकरणयों में श्री पूज्यपादस्वामी, विद्वानों के अधिपति थे, अर्थात् सर्वव्याकरण पण्डितों में शिरोमणि थे।

२. शब्दावतार

यह भी व्याकरण का ग्रन्थ है, वह प्रख्यात वैयाकरण पाणिनी के व्याकरण पर लिखा हुआ शब्दावतार नाम का न्यास है। 'नगर' तालुका के शिलालेख में इसका उल्लेख है।

३. सर्वार्थसिद्धि (तत्त्वार्थसूत्र टीका)

यह श्री उमास्वामी रचित तत्त्वार्थसूत्र की संस्कृत टीकारूप ग्रन्थ है। तत्त्वार्थसूत्र की यह सर्व प्रथम टीका है। तत्पश्चात् श्री अकलंकदेव ने 'तत्त्वार्थ राजवार्तिक' और श्री विद्यानन्दि ने 'तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक'

नामक टीकाएँ रची हैं। इन टीकाओं में सर्वार्थसिद्धि का अच्छा उपयोग किया गया है और उसका पर्याप्त मात्रा में अनुसरण किया गया है। सिद्धान्त ग्रन्थों में यह ग्रन्थ अत्यन्त प्रमाणभूत गिना जाता है, और जैन समाज में इसका अच्छा मूल्यांकन किया जाता है।

४-५. समाधितन्त्र और इष्टोपदेश

ये दोनों आध्यात्मिक ग्रन्थ हैं। समाधितन्त्र का अपर नाम समाधिशतक है। उसकी संस्कृत टीका श्री प्रभाचन्द्र ने की है और इष्टोपदेश की संस्कृत टीका पण्डित आशाधर ने की है। दोनों ग्रन्थ जैन समाज में सुप्रसिद्ध हैं।

समाधितन्त्र में आचार्यश्री ने कुन्दकुन्दाचार्य जैसे प्राचीन आचार्यों के आगम वाक्यों का सफलतापूर्वक अनुसरण किया है। तुलनात्मक दृष्टिवन्त को इस ग्रन्थ में मोक्षपाहुड़, समयसारादि ग्रन्थों की प्रतिध्वनि ज्ञात हुए बिना नहीं रहती।

शिलालेखों, उपलब्ध ग्रन्थों और ऐतिहासिक खोज से ज्ञात होता है कि पूज्यपादस्वामी एक सुप्रतिष्ठित जैन आचार्य, अद्वितीय वैयाकरण, महान दार्शनिक, धुरन्धर कवि, महान तपस्वी और युगप्रधान योगीन्द्र थे। उनके द्वारा महत्त्वपूर्ण विषयों पर लिखे ग्रन्थ उनकी अपार विद्वता के प्रतीक हैं।

उनके दिगन्तव्यापी यश और विद्वता से प्रभावित कर्नाटक के ई.स. ८, ९, १० वीं शताब्दी के प्राय: सभी विद्वान, कवियों ने अपने-अपने ग्रन्थों में उनको बहुत भक्तिभावपूर्ण, श्रद्धाञ्जली समर्पित करके मुक्तकण्ठ से बहुत प्रशंसा की है।

इष्टोपदेश

श्री पूज्यपादस्वामी द्वारा विरचित 'इष्टोपदेश' नामक आध्यात्मिक ग्रन्थ, भेदज्ञान एवं आत्मानुभव के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

ग्रन्थ के नाम की सार्थकता – 'जिसके द्वारा सुख उत्पन्न हो और दु:ख का विनाश हो, उस कार्य का नाम प्रयोजन है। उस प्रयोजन की सिद्धि जिससे हो, वही अपना इष्ट है। अब, इस अवसर में अपने को वीतराग विशेष ज्ञान का होना ही प्रयोजन है, क्योंकि उससे निराकुल सच्चे सुख की प्राप्ति होती है और सर्व आकुलतारूप दु:ख का अभाव होता है।'

(पण्डित टोडरमलजी, मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ४)

पण्डित दौलतरामजी ने छहढाला में कहा है कि —

'आतम को हित है सुख, सो सुख आकुलता बिन कहिये।
आकुलता शिवमांहि न तातैं, शिवमग लाग्यो चहिए॥'

आत्मा का हित सुख है और वह सुख आकुलतारहित है। मोक्ष में आकुलता नहीं; इसलिए मोक्ष के मार्ग में-उसके उपाय में लगे रहना चाहिए।

मोक्ष और उसका उपाय – यह अपना इष्ट है। आचार्य ने उसका उपदेश यथावत् रूप से इस ग्रन्थ में किया है, इसलिए 'इष्टोपदेश' इस ग्रन्थ का सार्थक नाम है।

ग्रन्थ की उपयोगिता – आचार्यदेव ने इस ग्रन्थ के अन्तिम श्लोक (५१) में कहा है कि — 'पूर्वोक्त प्रकार से 'इष्टोपदेश' का सम्यक् प्रकार से अध्ययन करके, अच्छी तरह चिन्तवन करके, जो भव्य धीमान् पुरुष, आत्मज्ञान के बल से मान-अपमान में समताभाव धारण करके तथा बाह्य पदार्थों में विपरीताभिनिवेश का त्याग करके नगर अथवा वन में विधिपूर्वक बसते हैं, वे उपमारहित मुक्तिलक्ष्मी को प्राप्त करते हैं।'

ग्रन्थ की विशेषता – यह आध्यात्मिक ग्रन्थ संक्षिप्त होने पर भी, आचार्यदेव ने इसमें 'गागर में सागर' भर दिया है। इसमें भेदविज्ञानपूर्वक शुद्धात्मा की उपलब्धि कैसे हो — इसका मार्ग-उपाय प्रतिपादित किया गया है — यह इसकी विशेषता है। साथ ही इस ग्रन्थ में सारभूत सन्दर्भों का भी निर्देश किया गया है —

१. उपादान, वस्तु की सहज निजशक्ति है और निमित्त तो संयोगरूप कारण है। कार्य अपने उपादान से ही होता है; उस समय उसके अनुकुल निमित्त होता ही है। उसको खोजने अथवा मिलाने की व्यग्रता की आवश्यकता ही नहीं होती है। *(श्लोक-२)*

२. शुद्धात्मा की प्राप्ति-अनुभव न हो, तब तक पाप से बचने के लिए हेयबुद्धि से पुण्यभाव आता है परन्तु वह भी बन्ध का कारण है – ऐसा समझना चाहिए। *(श्लोक-३ तथा उसका भावार्थ)*

३. मोक्ष के लिए प्रवृत्ति करनेवाले को स्वर्गसुख सहज प्राप्त होता है। *(श्लोक-४)*

४. संसारी जीवों के सुख-दुःख केवल वासनामात्र ही होते हैं। वे सुख-दुःखरूप भोग आपत्तिकाल में रोग के समान उद्वेगकारक हैं। *(श्लोक-६)* वस्तुतः कोई पदार्थ सुख-दुःखरूप नहीं है, परन्तु अज्ञानता के कारण उनमें इष्टानिष्ट की कल्पना करके जीव, राग-द्वेष करके सुख-दुःख का अनुभव करता है।

५. मोह से आच्छादित ज्ञान, निजस्वभाव को प्राप्त नहीं होता। *(श्लोक-७)*

६. शरीर, घर, धन, स्त्री, पुत्र, मित्र, शत्रु आदि आत्मा से अन्य (भिन्न) स्वभाववाले हैं और आत्मा से प्रत्यक्ष भिन्न हैं तो भी मूढ़जीव उनको अपना मानकर उनमें आत्मबुद्धि करता है। *(श्लोक-८)*

७. मिथ्यात्वयुक्त राग-द्वेष, संसार-समुद्र में सुदीर्घकाल तक भ्रमण का कारण है। *(श्लोक-११)*

८. दावानल से प्रज्ज्वलित वन के मध्य में वृक्ष पर बैठे मनुष्य की तरह मूढ़जीव नहीं विचारता कि अन्य की तरह स्वयं पर भी विपत्ति आ पड़ेगी। *(श्लोक-१४)*

९. ममतावान संसार में बँधता और ममतारहित छूटता है। *(श्लोक-२६)*

१०. ज्ञानी को मृत्यु का, रोग का, बाल्यावस्था तथा वृद्धावस्था का भय नहीं होता, क्योंकि वह इन सबको पौद्गलिक समझता है। *(श्लोक-२९)*

११. मैंने सर्व पुद्गलों को मोहवश अनेक बार भोग-भोगकर छोड़ा है, अब इन उच्छिष्ट पदार्थों में मुझे कोई स्पृहा नहीं है — ऐसा ज्ञानी विचारता है। *(श्लोक-३०)*

१२. वस्तुत: आत्मा ही आत्मा का गुरु है। *(श्लोक-३४)*

१३. जो अज्ञानी है, वह किसी से ज्ञानी नहीं हो सकता और जो ज्ञानी है, वह किसी से अज्ञानी नहीं हो सकता; गुरु आदि तो धर्मास्तिकायवत् निमित्तमात्र है। *(श्लोक-३५)*

१४. कार्य की उत्पत्ति स्वाभाविक गुण की (अपने उपादान की) अपेक्षा रखती है।

(श्लोक-३५ की टीका)

१५. जैसे-जैसे आत्मानुभव होता जाता है, वैसे-वैसे सुलभ विषय भी नहीं रुचते और जैसे-जैसे विषयों के प्रति अरुचि होती है, वैसे-वैसे आत्मानुभव की परिणति वृद्धिंगत होती जाती है।

(श्लोक-३७-३८)

१६. ध्यान-परायण योगी को अपनी देह का भी भान नहीं होता। *(श्लोक-४२)*

१७. पर, पर ही है; उसका आश्रय करने से दु:ख होता है। आत्मा, आत्मा ही है, उससे सुख है; इसलिए महात्मा, आत्मा के लिए ही उद्यमवन्त होते हैं। *(श्लोक-४५)*

१८. जो अज्ञानी, पुद्गल का अभिनन्दन करता है, उसका पीछा चार गति में पुद्गल कभी नहीं छोड़ता। *(श्लोक-४६)*

१९. अविद्या को दूर करनेवाली महान उत्कृष्ट ज्ञानज्योति है। मुमुक्षुओं को उसके सम्बन्ध में ही पूछताछ, उसी की वाँछा और उसी का अनुभव करना चाहिए। *(श्लोक-४९)*

२०. जीव अन्य और पुद्गल अन्य है — यह तत्त्व-कथन का सार है; अन्य जो कुछ कहा गया है, वह इसी का विस्तार है। *(श्लोक-५०)*

संस्कृत टीकाकार - पण्डितप्रवर आशाधरजी

जन्म-जन्मस्थल - मारवाड़ का मूलक जो संपादलक्ष के नाम से जाना जाता था, उसके मंडलकर नगर में विद्वान ऋषितुल्य कवि आशाधर का जन्म लगभग विक्रम संवत् १२३० से ३५ के मध्य हुआ था।

माता-पिता, पत्नी-पुत्र - उनके पिता का नाम सल्लक्षण था। वे जैन कुल के बघेरवाल वंश के थे। उनकी माता का नाम श्रीरत्नी था।

पण्डितजी उस काल के कालिदास कवि के समान थे। वे जन्म से ही असाधारणप्रज्ञा के धनी थे।

तात्कालिक राजनीतिक परिस्थितिवश वे (विक्रम संवत् १२४९ में) मालवा की राजधानी धारानगरी में अपने परिवार के साथ आ बसे थे।

धारानगरी में पण्डित धरसेन के शिष्य पण्डित महावीर के पास श्री आशाधरजी ने जैनेन्द्र प्रमाण और जैनेन्द्र व्याकरण का अध्ययन किया था। वे व्याकरण, न्याय, काव्य और धर्मशास्त्रादि के विषय में पारंगत थे और उन्होंने उक्त विषयों में सैकड़ों शिष्यों को निष्णात बनाया था। बड़े-बड़े मुनि भी उनके समीप विद्याध्ययन करके अपनी विद्यातृष्णा तृप्त करते थे।

उनके द्वारा रचित ग्रन्थों में जिनयज्ञकल्प, सागार धर्मामृत तथा अनागार धर्मामृत — ये तीन ग्रन्थ दिगम्बर जैन सम्प्रदाय में सुप्रसिद्ध हैं। उन्होंने अपने पिता के आदेश से 'अध्यात्म रहस्य' नामक आध्यात्मिक ग्रन्थ की रचना भी की थी। साथ में मूलाचार, इष्टोपदेश, भगवती आराधना, भूपाल चतुर्विंशति स्तवन, सहस्रनाम स्तवन, जिनयज्ञकल्प-दीपिका, त्रिपरिष्टमृति आदि ग्रन्थों की टीकायें भी रची हैं। उनको वैद्यक का भी उत्तमज्ञान था।

यहाँ इस ग्रन्थ में उनके द्वारा रचित टीका का अनुवाद किया गया है, साथ ही टीकाकार व ग्रन्थकार के भावों की सुस्पष्टता के लिए भावार्थ आदि दिये गये हैं।

आभार-प्रदर्शन

यह अनुवाद इसके योग्य काल में स्वयं प्रगट हो रहा है। इसमें परम अध्यात्ममूर्ति पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का धारावाहिक आध्यात्मिक प्रसाद निमित्त है — ऐसा विनयभाव से स्वीकार करते हुए उनके प्रति साभार भक्तिभाव से वंदन करता हूँ।

संस्कृत टीका की भाषा तो सरल है, तथापि कहीं टीकाकार का भाव स्पष्ट समझ में न आने से विद्वान पण्डितवर्य श्री हिम्मतभाई जे. शाह की मदद से उसको यथायोग्य स्पष्ट करने का प्रयास किया है, तदर्थ उनका अत्यन्त ऋणी हूँ।

धर्मवत्सल मान्यवर श्री रामजीभाई माणिकचन्द दोशी तथा सद्धर्मप्रेमी श्रीयुत खीमचन्दभाई जे. सेठ — इन दोनों ने अपना अमूल्य समय देकर इस अनुवाद को बराबर जाँच कर उचित मार्गदर्शन दिया; अत: उक्त दोनों का मैं आभारी हूँ। उनकी सहायता व सहानुभूति के बिना यह अनुवाद कार्य प्रकाश में आना मुश्किल था। इसी प्रकार ब्रह्मचारी गुलाबचन्दभाई का भी सहयोग रहा है, तदर्थ आभारी हूँ।

(गुजराती अनुवादक)

छोटालाल, गुलाबचन्द गांधी

सोनासण (गुज.)

सम्पादकीय

परम पूज्य दिगम्बराचार्य श्री **पूज्यपादस्वामी** द्वारा रचित **इष्टोपदेश** ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद समस्त सद्धर्मप्रेमी आत्मार्थीजनों को समर्पित करते हुए अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। यह इष्टोपदेश ग्रन्थ अत्यन्त संक्षिप्त होते हुए भी, आत्महित का मार्ग दर्शाने में परिपूर्ण है। इस ग्रन्थ में ग्रन्थकार ने समयसार, नियमसार, मोक्षपाहुड़ आदि अनेक ग्रन्थों की विषयवस्तु को अत्यन्त संक्षेप में समेटने का सार्थक प्रयास किया है, जो अपने आप में अद्भुत है।

इस ग्रन्थ में आचार्यदेव ने जीव का अनादिकालीन संसार परिभ्रमण कैसे दूर हो और वह आत्महित के पंथ में किस तरह गतिमान हो — तदर्थ अनेक प्रकार के मार्गदर्शन प्रदान किया है। परद्रव्यों एवं उनके कार्यों के कर्तृत्वरूप अहंकार से ग्रसित जीव को वस्तुस्वतन्त्रता का दिव्य-सन्देश प्रदान करते हुए आचार्यदेव ने सभी निमित्त, धर्मास्तिकायवत् है, यह सन्देश इसी ग्रन्थ की 35 वीं गाथा में प्रदान किया है, जो कार्य के प्रति निमित्त की अकिंचित् करता का शंखनाद करता हैं। सम्पूर्ण जिनागम का सार बताते हुए कहा गया है कि जीव अलग है और पुद्गल अलग है, यही सम्पूर्ण तत्त्वकथन का सार है, अन्य जो कुछ भी है, वह सब इसी का विस्तार है; अत: हमें सम्पूर्ण वीतरागी जिनशासन का सार स्व-पर भेदविज्ञान अपने जीवन में प्रगट करते हुए, आत्महित के मार्ग में आगे बढ़ना चाहिए।

यह ग्रन्थ अत्यन्त सरल भाषा में आत्महित का उपाय दर्शानेवाला अनुपम ग्रन्थ है, जिसे समझने के लिए अधिक बुद्धि और श्रम की आवश्यकता नहीं है। आसानी से समझ में आ सकने योग्य उदाहरणों के माध्यम से तत्त्वज्ञान की गम्भीर चर्चायें इस ग्रन्थ में उपलब्ध हैं। इस ग्रन्थ में समागत विषयवस्तु, ग्रन्थकार आचार्य पूज्यपाद तथा टीकाकार पण्डित आशाधर के सम्बन्ध में प्रस्तावना में विशेष प्रकाश डाला गया है; अत: इस सम्बन्ध में अधिक कुछ कहने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है।

यह ग्रन्थ गुजराती टीका के शब्दश: अनुवाद के साथ श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ से प्रकाशित हुआ है। जिसका हिन्दी रूपान्तरण करके जुलाई 2003 में श्री कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट, मुम्बई द्वारा प्रकाशित किया गया था। वर्तमान संस्करण उसी संस्करण का आवश्यक संशोधन करके प्रकाशित किया जा रहा है।

❖ इस प्रकाशन में प्राचीन हिन्दी पद्यानुवाद को स्थान दिया गया है।

❖ भावार्थ और विशेष स्पष्टीकरण का फॉन्ट बदल कर दिया गया है।

❖ ग्रन्थ में आधारभूत गाथाओं को पाद–टिप्पण में अर्थसहित दिया गया है।

❖ विगत संस्करण की अशुद्धियों को पुन: गुजराती से मिलान करके दूर कर दिया गया है।

❖ गत संस्करण में समाधितन्त्र और इष्टोपदेश का संयुक्त जिल्द में प्रकाशन किया गया था, जिसे इस बार पृथक्–पृथक्रूप से प्रकाशित किया जा रहा है।

इस ग्रन्थ पर परम उपकारी जीवनशिल्पी आध्यात्मिक सन्त पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी द्वारा 45 प्रवचन प्रदान करके इसके रहस्यों का विशद् स्पष्टीकरण किया गया है। जिनका प्रकाशन गुजराती भाषा में इष्टोपदेश प्रवचन, भाग 1 एवं 2 के रूप में उपलब्ध है और शीघ्र ही हिन्दी भाषा में भी दोनों भाग उपलब्ध होंगे। निश्चित ही यदि गुरुदेवश्री अपने प्रवचनों द्वारा इस ग्रन्थ के रहस्यों का उद्घाटन नहीं करते तो इसमें समागत सूक्ष्म रहस्यों को समझ पाना सरल नहीं था।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन के अवसर पर वीतरागी देव–शास्त्र–गुरु; इस ग्रन्थ के रचनाकार श्रीमद् पूज्यपादस्वामी तथा इसके रहस्योद्घाटक पूज्य गुरुदेवश्री के चरणों में सविनय वन्दन समर्पित करता हूँ। पूज्य गुरुदेवश्री सहित समस्त ज्ञानी–धर्मात्माओं के प्रति बहुमान / भक्ति उत्पन्न कराने में निमित्त आदरणीय पण्डित कैलाशचन्द जैन, अलीगढ़ के प्रति भी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

इस ग्रन्थ के प्रूफ संशोधन आदि कार्यों में सक्रिय सहयोग देनेवाले आदरणीय अग्रज श्री पवन जैन, अलीगढ़ के प्रति तथा प्रकाशक श्री कुन्दकुन्द–कहान–पारमार्थिक ट्रस्ट, मुम्बई; पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर एवं श्री आदिनाथ–कुन्दकुन्द–कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट, अलीगढ़ के प्रति भी हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ।

सभी आत्मार्थी बन्धु इस ग्रन्थ का आत्मलक्ष्य से स्वाध्याय करके निज हित साधें इसी पवित्र भावना के साथ...........

देवेन्द्रकुमार जैन

बिजौलियां, जिला भीलवाड़ा

अध्यात्मयुगसृष्टा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

(संक्षिप्त जीवनवृत्त)

भारतदेश के सौराष्ट्र प्रान्त में, बलभीपुर के समीप समागत 'उमराला' गाँव में स्थानकवासी सम्प्रदाय के दशाश्रीमाली वणिक परिवार के श्रेष्ठीवर्य श्री मोतीचन्दभाई के घर, माता उजम्बा की कूख से विक्रम संवत् 1946 के वैशाख शुक्ल दूज, रविवार (दिनाङ्क 21 अप्रैल 1890 – ईस्वी) प्रात:काल इन बाल महात्मा का जन्म हुआ।

जिस समय यह बाल महात्मा इस वसुधा पर पधारे, उस समय जैन समाज का जीवन अन्ध-विश्वास, रूढ़ि, अन्धश्रद्धा, पाखण्ड, और शुष्क क्रियाकाण्ड में फँस रहा था। जहाँ कहीं भी आध्यात्मिक चिन्तन चलता था, उस चिन्तन में अध्यात्म होता ही नहीं था। ऐसे इस अन्धकारमय कलिकाल में तेजस्वी कहानसूर्य का उदय हुआ।

पिताश्री ने सात वर्ष की लघुवय में लौकिक शिक्षा हेतु विद्यालय में प्रवेश दिलाया। प्रत्येक वस्तु के ह्लार्द तक पहुँचने की तेजस्वी बुद्धि, प्रतिभा, मधुरभाषी, शान्तस्वभावी, सौम्य गम्भीर मुखमुद्रा, तथा स्वयं कुछ करने के स्वभाववाले होने से बाल 'कानजी' शिक्षकों तथा विद्यार्थियों में लोकप्रिय हो गये। विद्यालय और जैन पाठशाला के अभ्यास में प्राय: प्रथम नम्बर आता था, किन्तु विद्यालय की लौकिक शिक्षा से उन्हें सन्तोष नहीं होता था। अन्दर ही अन्दर ऐसा लगता था कि मैं जिसकी खोज में हूँ, वह यह नहीं है।

तेरह वर्ष की उम्र में छह कक्षा उत्तीर्ण होने के पश्चात्, पिताजी के साथ उनके व्यवसाय के कारण पालेज जाना हुआ, और चार वर्ष बाद पिताजी के स्वर्गवास के कारण, सत्रह वर्ष की उम्र में भागीदार के साथ व्यवसायिक प्रवृत्ति में जुड़ना हुआ।

व्यवसाय की प्रवृत्ति के समय भी आप अप्रमाणिकता से अत्यन्त दूर थे, सत्यनिष्ठा, नैतिज्ञता, निखालिसता और निर्दोषता से सुगन्धित आपका व्यावहारिक जीवन था। साथ ही आन्तरिक व्यापार और झुकाव तो सतत् सत्य की शोध में ही संलग्न था। दुकान पर भी धार्मिक पुस्तकें पढ़ते थे। वैरागी चित्तवाले कहानकुँवर कभी रात्रि को रामलीला या नाटक देखने जाते तो

उसमें से वैराग्यरस का घोलन करते थे। जिसके फलस्वरूप पहली बार सत्रह वर्ष की उम्र में पूर्व की आराधना के संस्कार और मङ्गलमय उज्ज्वल भविष्य की अभिव्यक्ति करता हुआ, बारह लाईन का काव्य इस प्रकार रच जाता है —

शिवरमणी रमनार तूं, तूं ही देवनो देव।

उन्नीस वर्ष की उम्र से तो रात्रि का आहार, जल, तथा अचार का त्याग कर दिया था।

सत्य की शोध के लिए दीक्षा लेने के भाव से 22 वर्ष की युवा अवस्था में दुकान का परित्याग करके, गुरु के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार कर लिया और 24 वर्ष की उम्र में (अगहन शुक्ल 9, संवत् 1970 – 07 दिसम्बर 1913) के दिन छोटे से उमराला गाँव में 2000 साधर्मियों के विशाल जनसमुदाय की उपस्थिति में स्थानकवासी सम्प्रदाय की दीक्षा अंगीकार कर ली। दीक्षा के समय हाथी पर चढ़ते हुए धोती फट जाने से तीक्ष्ण बुद्धि के धारक – इन महापुरुष को शंका हो गयी कि कुछ गलत हो रहा है परन्तु सत्य क्या है? यह तो मुझे ही शोधना पड़ेगा।

दीक्षा के बाद तुरन्त ही महात्मा कानजीस्वामी ने स्थानकवासी और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समस्त आगमों का गहन अभ्यास मात्र चार वर्ष में पूर्ण कर लिया। सम्प्रदाय में बड़ी चर्चा चलती थी, कि कर्म है तो विकार होता है न? यद्यपि गुरुदेवश्री को अभी दिगम्बर शास्त्र प्राप्त नहीं हुए थे, तथापि पूर्व संस्कार के बल से वे दृढ़तापूर्वक सिंह गर्जना करते हैं — **जीव स्वयं से स्वतन्त्ररूप से विकार करता है; कर्म से नहीं अथवा पर से नहीं। जीव अपने उल्टे पुरुषार्थ से विकार करता है और सुल्टे पुरुषार्थ से उसका नाश करता है।**

विक्रम संवत् 1978 में महावीर प्रभु के शासन-उद्धार का और हजारों मुमुक्षुओं के महान पुण्योदय का सूचक एक मङ्गलकारी पवित्र प्रसंग बना —

32 वर्ष की उम्र में, विधि के किसी धन्य क्षण में श्रीमद्‌भगवत् कुन्दकन्दाचार्यदेव रचित 'समयसार' नामक महान परमागम, गुरुदेवश्री के हस्तकमल में आया, जिसका अध्ययन और चिन्तन करते हुए अन्तर में आनन्द और उल्लास प्रस्फुटित हुआ। इन महापुरुष के अन्तरंग जीवन में भी परम पवित्र परिवर्तन हुआ। भूली पड़ी परिणति ने निज घर देखा। इन पवित्र पुरुष के अन्तर में से सहज ही उद्‌गार निकले — **'सेठ! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।'** तत्पश्चात् श्री प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, मोक्षमार्गप्रकाशक, द्रव्यसंग्रह, सम्यग्ज्ञानदीपिका इत्यादि दिगम्बर शास्त्रों के अभ्यास से आपको नि:शंक निर्णय हो गया कि दिगम्बर जैनधर्म ही मूलमार्ग है और वही सच्चा धर्म है। इस कारण आपकी अन्तरंग श्रद्धा कुछ और बाहर में वेष कुछ — यह स्थिति आपको

असह्य हो गयी। सत्यधर्म का स्वरूप प्रकाशित करने में हिचकना पड़ता था; अतः अन्तरंग में अत्यन्त मनोमन्थन के पश्चात् सम्प्रदाय के परित्याग का निर्णय लिया।

सोनगढ़ आकर वहाँ 'स्टार ऑफ इण्डिया' नामक एकान्त मकान में महावीर प्रभु के जन्मदिवस, चैत्र शुक्ल 13, संवत् 1991 (दिनांक 16 अप्रैल 1935) के दिन दोपहर सवा बजे सम्प्रदाय का चिह्न मुँह पट्टी का त्याग कर दिया और स्वयं घोषित किया कि **अब मैं स्थानकवासी साधु नहीं; मैं सनातन दिगम्बर जैनधर्म का श्रावक हूँ।** सिंह-समान वृत्ति के धारक इन महापुरुष ने 45 वर्ष की उम्र में महावीर्य उछाल कर यह अद्‌भुत पराक्रमी कार्य किया।

स्टार ऑफ इण्डिया में निवास करते हुए मात्र तीन वर्ष के दौरान ही जिज्ञासु भक्तजनों का प्रवाह दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया, जिसके कारण यह मकान एकदम छोटा पड़ने लगा; अतः भक्तों ने इन परम प्रतापी सत् पुरुष के निवास और प्रवचन का स्थल '**श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर**' का निर्माण कराया। गुरुदेवश्री ने वैशाख कृष्ण 8, संवत् 1994 (दिनांक 22 मई 1938) के दिन इस निवासस्थान में मंगल पदार्पण किया। यह स्वाध्याय मन्दिर, जीवनपर्यन्त इन महापुरुष की आत्मसाधना और वीरशासन की प्रभावना का केन्द्र बन गया।

यहाँ ग्रन्थाधिराज समयसार पर प्रवचन प्रारम्भ करने के पश्चात् दिगम्बर धर्म के चारों अनुयोगों के छोटे बड़े 183 ग्रन्थों का गहनता से अध्ययन किया, उनमें से मुख्य 38 ग्रन्थों पर सभा में प्रवचन किये। जिनमें श्री समयसार ग्रन्थ पर 19 बार की गयी अध्यात्म वर्षा विशेष उल्लेखनीय है। प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, परमात्मप्रकाश, नियमसार, पंचास्तिकायसंग्रह, समयसार कलश-टीका इत्यादि ग्रन्थों पर भी बहुत बार प्रवचन किये हैं।

दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले और कुन्दकुन्दादि आचार्यों के गहन शास्त्रों के रहस्योद्‌घाटक इन महापुरुष की भवताप विनाशक अमृतवाणी को ईस्वी सन् 1961 से नियमितरूप से टेप में उत्कीर्ण कर लिया गया, जिसके प्रताप से आज अपने पास नौ हजार से अधिक प्रवचन सुरक्षित उपलब्ध हैं। यह मङ्गल गुरुवाणी, देश-विदेश के समस्त मुमुक्षु मण्डलों में तथा लाखों जिज्ञासु मुमुक्षुओं के घर-घर में गुंजायमान हो रही है। इससे इतना तो निश्चित है कि भरतक्षेत्र के भव्यजीवों को पञ्चम काल के अन्त तक यह दिव्यवाणी ही भव के अभाव में प्रबल निमित्त होगी।

इन महापुरुष का धर्म सन्देश, समग्र भारतवर्ष के मुमुक्षुओं को नियमित उपलब्ध होता रहे, तदर्थ सर्व प्रथम विक्रम संवत् 2000 के माघ माह से (दिसम्बर 1943 से) **आत्मधर्म** नामक मासिक आध्यात्मिक पत्रिका का प्रकाशन सोनगढ़ से मुरब्बी श्री रामजीभाई माणिकचन्द दोशी के सम्पादकत्व

में प्रारम्भ हुआ, जो वर्तमान में भी गुजराती एवं हिन्दी भाषा में नियमित प्रकाशित हो रहा है। पूज्य गुरुदेवश्री के दैनिक प्रवचनों को प्रसिद्धि करता दैनिक पत्र **श्री सद्गुरु प्रवचनप्रसाद** ईस्वी सन् 1950 सितम्बर माह से नवम्बर 1956 तक प्रकाशित हुआ। **सुवर्ण-सन्देश** नामक साप्ताहिक पत्रिका अक्टूबर 1960 से अप्रैल 1962 तक प्रकाशित हुई। स्वानुभवविभूषित चैतन्यविहारी इन महापुरुष की मङ्गल-वाणी को पढ़कर और सुनकर हजारों स्थानकवासी श्वेताम्बर तथा अन्य कौम के भव्य जीव भी तत्त्व की समझपूर्वक सच्चे दिगम्बर जैनधर्म के अनुयायी हुए। मूल दिगम्बर जैनों को भी आपने सच्चा दिगम्बर बनाया।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा दिगम्बर आचार्यों और मान्यवर, पण्डितवर्यों के ग्रन्थों तथा पूज्य गुरुदेवश्री के उन ग्रन्थों पर हुए प्रवचन-ग्रन्थों का प्रकाशन कार्य विक्रम संवत् 1999 (ईस्वी सन् 1943 से) शुरु हुआ। ईस्वीं सन् 1980 तक पूज्य कृपालु कहान गुरुदेव की उपस्थिति तक बाईस लाख पुस्तकें प्रकाशित हुईं। श्री टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर की ओर से भी इस समय तक आठ लाख पुस्तकें प्रकाशित हुईं। सत्साहित्य द्वारा इस वीतरागी तत्त्वज्ञान की देश-विदेश में अपूर्व प्रभावना हुई, जो अनवरतरूप से अभी भी चल रही है।

वर्तमान में सत्साहित्य का प्रकाशन सोनगढ़ के उपरान्त भावनगर, राजकोट, मुम्बई, देवलाली, जयपुर, अलीगढ़, सोनागिर, इत्यादि अनेक स्थानों से हो रहा है। अब तो पूज्य गुरुदेवश्री की रिकार्डिंग वाणी के अक्षरश: प्रकाशन भी प्रारम्भ हुए हैं। परमागमों का गहन रहस्य समझाकर कृपालु कहान गुरुदेव ने हम सब पर अमाप करुणा बरसायी है, तत्त्व जिज्ञासु जीवों के लिए यह एक महान आधार है और दिगम्बर जैन साहित्य की एक अमूल्य सम्पत्ति है।

ईस्वीं सन् 1962 के दशलक्षण पर्व से भारत भर में अनेक स्थानों पर पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रवाहित तत्त्वज्ञान के प्रचार के लिए प्रवचनकार भेजना प्रारम्भ हुआ। इस प्रवृत्ति से भारत भर के समस्त दिगम्बर जैन समाज में अभूतपूर्व आध्यात्मिक जागृति उत्पन्न हुई। आज भी देश-विदेश में दशलक्षण पर्व में सैकड़ों प्रवचनकार विद्वान इस वीतरागी तत्त्वज्ञान का डंका बजा रहे हैं।

बालकों में तत्त्वज्ञान के संस्कारों का अभिसिंचन हो, तदर्थ सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 (ईस्वीं सन् 1941) के मई महीने के ग्रीष्मकालीन अवकाश में बीस दिवसीय धार्मिक शिक्षण वर्ग प्रारम्भ हुआ, जो अनवरतरूप से चल रहा है। ईस्वीं सन् 1967 से श्री वीतराग-विज्ञान परीक्षा बोर्ड जयपुर द्वारा प्रतिवर्ष सम्पूर्ण भारत में वीतराग-विज्ञान पाठशाला के सैकड़ों केन्द्रों पर धार्मिक परीक्षा का आयोजन किया जाता है। जिसमें बालकों के साथ-साथ छोटे-बड़े जिज्ञासु भाई-बहिन

हजारों की संख्या में मूल तत्त्वज्ञान सिखते हैं। बालकों के तत्त्वज्ञान का बीजारोपण करने हेतु प्रशिक्षित अध्यापक तैयार करने के लिये, शिक्षण–प्रशिक्षण शिविर इस शृंखला की अविस्मरणीय कड़ी है, जो पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर का विनम्र प्रयास है।

सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 – फाल्गुन शुक्ल दूज (28 फरवरी 1941) के दिन नूतन दिगम्बर जिनमन्दिर में कहानगुरु के मङ्गल हस्त से श्री सीमन्धर आदि भगवन्तों की पंच कल्याणक विधिपूर्वक प्रतिष्ठा हुई। उस समय सौराष्ट्र में मुश्किल से चार–पाँच दिगम्बर मन्दिर थे और दिगम्बर जैन तो भाग्य से ही दृष्टिगोचर होते थे। जिनमन्दिर निर्माण के बाद दोपहरकालीन प्रवचन के पश्चात् जिनमन्दिर में नित्यप्रति भक्ति का क्रम प्रारम्भ हुआ, जिसमें जिनवर भक्त गुरुराज हमेशा उपस्थित रहते थे, और कभी–कभी अतिभाववाही भक्ति भी कराते थे। इस प्रकार गुरुदेवश्री का जीवन निश्चय–व्यवहार की अपूर्व सन्धियुक्त था।

ईस्वी सन् 1941 से ईस्वीं सन् 1980 तक सौराष्ट्र–गुजरात के उपरान्त समग्र भारतदेश के अनेक शहरों में तथा नैरोबी में कुल 66 दिगम्बर जिनमन्दिरों की मङ्गल प्रतिष्ठा इन वीतराग–मार्ग प्रभावक सत्पुरुष के पावन कर–कमलों से हुई और आज भी यह प्रवृत्ति अनवरतरूप से चल रही है।

जन्म–मरण से रहित होने का सन्देश निरन्तर सुनानेवाले इन चैतन्यविहारी पुरुष की मङ्गलकारी जन्म–जयन्ती 59 वें वर्ष से सोनगढ़ में मनाना शुरु हुआ। तत्पश्चात् अनेकों मुमुक्षु मण्डलों द्वारा और अन्तिम 91 वें जन्मोत्सव तक भव्य रीति से मनाये गये। 75 वीं हीरक जयन्ती के अवसर पर समग्र भारत की जैन समाज द्वारा चाँदी जड़ित एक आठ सौ पृष्ठीय अभिनन्दन ग्रन्थ, भारत सरकार के तत्कालीन गृहमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री द्वारा मुम्बई में देशभर के हजारों भक्तों की उपस्थिति में पूज्यश्री को अर्पित किया गया।

श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रा के निमित्त समग्र उत्तर और पूर्व भारत में मङ्गल विहार ईस्वी सन् 1957 और ईस्वी सन् 1967 में ऐसे दो बार हुआ। इसी प्रकार समग्र दक्षिण और मध्यभारत में ईस्वी सन् 1959 और ईस्वी सन् 1964 में ऐसे दो बार विहार हुआ। इस मङ्गल तीर्थयात्रा के विहार दौरान लाखों जिज्ञासुओं ने इन सिद्धपद के साधक सन्त के दर्शन किये, तथा भवान्तकारी अमृतमय वाणी सुनकर अनेक भव्य जीवों के जीवन की दिशा आत्मसन्मुख हो गयी। इन सन्त पुरुष को अनेक स्थानों से अस्सी से अधिक अभिनन्दन पत्र अर्पण किये गये हैं।

श्री महावीर प्रभु के निर्वाण के पश्चात् यह अविच्छिन्न पैंतालीस वर्ष का समय (वीर संवत्

2461 से 2507 अर्थात् ईस्वी सन् 1935 से 1980) वीतरागमार्ग की प्रभावना का स्वर्णकाल था। जो कोई मुमुक्षु, अध्यात्म तीर्थधाम स्वर्णपुरी / सोनगढ़ जाते, उन्हें वहाँ तो चतुर्थ काल का ही अनुभव होता था। दिनांक 29 नवम्बर 1980 शुक्रवार (कार्तिक कृष्ण 7, संवत् 2037) के दिन ये प्रबल पुरुषार्थी आत्मज्ञ सन्त पुरुष — देह का, बीमारी का और मुमुक्षु समाज का भी लक्ष्य छोड़कर अपने ज्ञायक भगवान के अन्तरध्यान में एकाग्र हुए, अतीन्द्रिय आनन्दकन्द निज परमात्मतत्त्व में लीन हुए। सायंकाल आकाश का सूर्य अस्त हुआ, तब सर्वज्ञपद के साधक सन्त ने मुक्तिपुरी के पन्थ में यहाँ भरतक्षेत्र से स्वर्गपुरी में प्रयाण किया। वीरशासन को प्राणवन्त करके यहाँ से अध्यात्म युग सृजक बनाकर प्रस्थान किया।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस युग का एक महान और असाधारण व्यक्तित्व थे, उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने सत्य से अत्यन्त दूर जन्म लेकर स्वयंबुद्ध की तरह स्वयं सत्य का अनुसन्धान किया और अपने प्रचण्ड पुरुषार्थ से जीवन में उसे आत्मसात किया।

इन विदेही दशावन्त महापुरुष का अन्तर जितना उज्ज्वल है, उतना ही बाह्य भी पवित्र है; ऐसा पवित्रता और पुण्य का संयोग इस कलिकाल में भाग्य से ही दृष्टिगोचर होता है। आपश्री की अत्यन्त नियमित दिनचर्या, सात्विक और परिमित आहार, आगम सम्मत्त संभाषण, करुण और सुकोमल हृदय, आपके विरल व्यक्तित्व के अभिन्न अवयव हैं। शुद्धात्मतत्त्व का निरन्तर चिन्तवन और स्वाध्याय ही आपका जीवन था। जैन श्रावक के पवित्र आचार के प्रति आप सदैव सतर्क और सावधान थे। जगत् की प्रशंसा और निन्दा से अप्रभावित रहकर, मात्र अपनी साधना में ही तत्पर रहे। आप भावलिंगी मुनियों के परम उपासक थे।

आचार्य भगवन्तों ने जो मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उसे इन रत्नत्रय विभूषित सन्त पुरुष ने अपने शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति के आधार से सातिशय ज्ञान और वाणी द्वारा युक्ति और न्याय से सर्व प्रकार से स्पष्ट समझाया है। द्रव्य की स्वतन्त्रता, द्रव्य-गुण-पर्याय, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार, क्रमबद्धपर्याय, कारणशुद्धपर्याय, आत्मा का शुद्धस्वरूप, सम्यग्दर्शन, और उसका विषय, सम्यग्ज्ञान और ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता, तथा सम्यक्चारित्र का स्वरूप इत्यादि समस्त ही आपश्री के परम प्रताप से इस काल में सत्यरूप से प्रसिद्धि में आये हैं। आज देश-विदेश में लाखों जीव, मोक्षमार्ग को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं - यह आपश्री का ही प्रभाव है।

समग्र जीवन के दौरान इन गुणवन्ता ज्ञानी पुरुष ने बहुत ही अल्प लिखा है क्योंकि आपको

तो तीर्थङ्कर की वाणी जैसा योग था, आपकी अमृतमय मङ्गलवाणी का प्रभाव ही ऐसा था कि सुननेवाला उसका रसपान करते हुए थकता ही नहीं। दिव्य भावश्रुतज्ञानधारी इस पुराण पुरुष ने स्वयं ही परमागम के यह सारभूत सिद्धान्त लिखाये हैं :—

1. एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता।

2. प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध ही होती है।

3. उत्पाद, उत्पाद से है; व्यय या ध्रुव से नहीं।

4. उत्पाद, अपने षट्कारक के परिणमन से होता है।

5. पर्याय के और ध्रुव के प्रदेश भिन्न हैं।

6. भावशक्ति के कारण पर्याय होती ही है, करनी नहीं पड़ती।

7. भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है।

8. चारों अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता है।

9. स्वद्रव्य में भी द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद करना, वह अन्यवशपना है।

10. ध्रुव का अवलम्बन है परन्तु वेदन नहीं; और पर्याय का वेदन है, अवलम्बन नहीं।

इन अध्यात्मयुगसृष्टा महापुरुष द्वारा प्रकाशित स्वानुभूति का पावन पथ जगत में सदा जयवन्त वर्तो!

तीर्थङ्कर श्री महावीर भगवान की दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले शासन स्तम्भ श्री कहानगुरुदेव त्रिकाल जयवन्त वर्तो!!

सत्पुरुषों का प्रभावना उदय जयवन्त वर्तो!!!

❖ ❖ ❖

विषयानुक्रमणिका

श्लोक	विषय	पृष्ठ
१.	मंगलाचरण (सिद्धात्मा को नमस्कार)	१
२.	स्वस्वरूप की प्राप्ति कैसे हो......	२
३.	व्रतादि का अनुष्ठान निरर्थक नहीं	४
४.	मोक्षार्थी को स्वर्गसुख भी सुलभ होता है	७
५.	आत्मशक्ति से स्वर्ग की प्राप्ति होने पर वहाँ क्या फल मिलता है	१०
६.	सांसारिक सुख की अवास्तविकता	१२
७.	वासनाजन्य सुख-दु:ख की प्रतीति क्यों नहीं होती	१४
८.	शरीरादि को मूढ़ कैसा मानता है	१८
९.	हितकारक माने गये स्त्री-पुत्रादि के संयोग का दृष्टान्त	२०
१०.	अहितवर्ग कोप का पात्र नहीं दृष्टान्त	२२
११.	हित-अहित पदार्थों में राग-द्वेष का परिणाम	२५
१२.	सांसारिक सुख का वास्तविक स्वरूप	२७
१३.	संसारी जीव किसमें सुख मानते हैं	३१
१४.	कष्टदायक सम्पदा का लोभ क्यों नहीं छोड़ता	३३
१५.	धनार्थी आगामी आपदा को नहीं देखता	३५
१६.	जिससे पुण्योपार्जन हो वह धन निंद्य कैसे	३७
१७.	भोगोपभोग के लिए भी धन की साधना प्रशस्य नहीं	३८
१८.	काय संबंधी विचार	४१
१९.	धनादि से क्या आत्म उपकार हो सकेगा	४५
२०.	ध्यान से सांसारिक सुख और मोक्ष की प्राप्ति होती हो तो विवेकी किसे पसंद करेगा।	४७
२१.	आत्मा का स्वरूप	४९
२२.	आत्मा की उपासना कैसे करना	५०
२३.	आत्मा की उपासना का प्रयोजन	५५
२४.	आत्मलीन ज्ञानी को क्या लाभ होता है	५८
२५.	ध्यान-ध्येयरूप आत्मा को संयोगादिक संबंध का अभाव होता है	६५

श्लोक	विषय	पृष्ठ
२६.	बंध–मोक्ष का कारण	६८
२७.	निर्ममत्व भावना के चिंतन का उपाय	७१
२८.	दुःख के कारणभूत देहादिक के परित्याग का निर्देश	७२
२९.	किस भावना से जन्म–मरण दूर हों	७५
३०.	उच्छिष्ट भोगों में ज्ञानी को स्पृहा क्यों हो	७७
३१.	पुद्गल कर्मों का बंध जीव के साथ किसप्रकार होता है	७८
३२.	परोपकारी मिटकर स्वोपकारी बन	८१
३३.	स्व–पर भेदविज्ञान का उपाय व उसका फल	८३
३४.	आत्मा ही आत्मा का गुरु है, क्यों	८५
३५.	आत्मा गुरु के अलावा अन्य निमित्त मात्र है	८७
३६.	आत्मस्वरूप के अभ्यास का उपाय	८९
३७.	योगी को स्व–पर की संविति है वह जानने का उपाय	९३
३८.	विषयों की अरुचि आत्मसंविति का चिह्न	९४
३९.	आत्मसंविति के अन्य चिह्न	९६
४०.	आत्मसंविति के अन्य चिह्न	९७
४१.	आत्मतत्त्व में स्थिर योगी का स्वरूप	९९
४२.	योगी को स्वदेह के प्रति भी लक्ष नहीं होता	१०१
४३.	योगी की ऐसी अवस्था कैसे होती है	१०३
४४.	योगी को स्वात्मानुभव में रति होने से अन्य प्रवृति का अभाव	१०४
४५.	महात्मा किसके लिए उद्यमवंत होते हैं	१०५
४६.	देहादिक के अभिनंदन का फल	१०६
४७.	स्वात्म ध्यान का फल	१०८
४८.	आत्मानंद का कार्य	१०९
४९.	आत्मज्योति के लिए मुमुक्षुओं को क्या करना	११०
५०.	सर्वतत्त्वों का सार–जीव–पुद्गल का भेदज्ञान	११२
५१.	शास्त्राध्ययन का साक्षात् व परम्परा फल	११३
	टीका प्रशस्ति	११५

ॐ

॥ शास्त्रों का अर्थ करने की पद्धति ॥

''व्यवहारनय, स्वद्रव्य-परद्रव्य को और उनके भावों को एवं कारण-कार्यादि को, किसी को किसी में मिला कर निरूपण करता है, इसलिए ऐसे ही श्रद्धान से मिथ्यात्व है; अतः उसका त्याग करना चाहिए और निश्चयनय, उन्हीं को यथावत् निरूपण करता है, किसी को किसी में नहीं मिलाता, इसलिए ऐसे ही श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है; अतः उसका श्रद्धान करना चाहिए।

प्रश्न – यदि ऐसा है तो जिनमार्ग दोनों नयों को ग्रहण करना कहा है, उसका क्या कारण है ?

उत्तर – जिनमार्ग में कहीं तो निश्चयनय की मुख्यतासहित व्याख्यान है, उसे तो 'सत्यार्थ इसी प्रकार है' – ऐसा जानना चाहिए तथा कहीं व्यवहारनय की मुख्यतासहित कथन है, उसे 'ऐसा है नहीं, निमित्तादि की अपेक्षा उपचार किया है' – ऐसा जानना चाहिए। इस प्रकार जानने का नाम ही दोनों नयों का ग्रहण है तथा दोनों नयों के व्याख्यान को समान सत्यार्थ जान कर 'ऐसे भी है, ऐसे भी है' – इस प्रकार भ्रमरूप प्रवर्तने से तो दोनों नयों का ग्रहण करना नहीं कहा है।

प्रश्न – यदि व्यवहारनय असत्यार्थ है तो जिनमार्ग में उसका उपदेश क्यों दिया है ? एक निश्चयनय ही का निरूपण करना था।

उत्तर – ऐसा ही तर्क समयसार में भी किया है। वहाँ यह उत्तर दिया है –

जह ण वि सक्कमणज्जो, अण्ज्जभासं विणा दु गाहेदुं।
तह ववहारेण विणा, परमत्थुवदेसणमसक्कं ॥ ८ ॥

अर्थात् जिस प्रकार अनार्य अर्थात् म्लेच्छ को म्लेच्छभाषा के बिना, अर्थ ग्रहण कराने में कोई समर्थ नहीं है; उसी प्रकार व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश अशक्य है, इसलिए व्यवहार का उपदेश दिया गया है।

इसी सूत्र की व्याख्या में ऐसा कहा है कि इस प्रकार निश्चय को अङ्गीकार कराने के लिए व्यवहार के द्वारा उपदेश देते हैं; किन्तु व्यवहारनय है, वह अङ्गीकार करने योग्य नहीं है।'' *(- **पण्डितप्रवर श्री टोडरमलजी :** मोक्षमार्ग प्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २५१)*

ॐ

卐 श्री सर्वज्ञ-वीतरागाय नमः 卐

॥ शास्त्र-स्वाध्याय का प्रारम्भिक मङ्गलाचरण ॥

ओकारं बिन्दुसंयुक्तं, नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।
कामदं मोक्षदं चैव, ॐकाराय नमो नमः ॥ १ ॥

अविरलशब्दघनौघप्रक्षालित-सकलभूतलमलकलङ्का।
मुनिभिरुपासिततीर्था, सरस्वती ! हरतु नो दुरितान् ॥ २ ॥

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरुवे नमः ॥ ३ ॥

श्रीपरमगुरवे नमः, परम्पराचार्यश्रीगुरवे नमः

सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं, भव्यजीवमनः प्रतिबोधकारकं, पुण्यप्रकाशकं, पापप्रणाशकमिदं शास्त्रं श्री 'इष्टोपदेश' नामधेयं, अस्य मूलग्रन्थकर्तारः श्रीसर्वज्ञदेवास्तदुत्तरग्रन्थकर्तारः श्रीगणधरदेवाः प्रतिगणधरदेवास्तेषां वचोऽनुसारमासाद्य श्रीमद्‌भगवद्-पूज्यपादाचार्यदेवविरचितम्।

श्रोतारः सावधानतया शृण्वन्तु

मङ्गलं भगवान् वीरो, मङ्गलं गौतमौ गणी।
मङ्गलं कुन्दकुन्दार्यो, जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलम् ॥ १ ॥

सर्वमङ्गलमाङ्गल्यं, सर्वकल्याणकारकम्।
प्रधानं सर्वधर्माणां, जैनं जयतु शासनम् ॥ २ ॥

ॐ

परमात्मने नमः

श्रीमद् पूज्यपादस्वामी रचित

इष्टोपदेश

(पण्डित आशाधरकृत संस्कृत टीकासहित)

(संस्कृत टीकाकार का मङ्गलाचरण)

परमात्मानमानम्य मुमुक्षुः स्वात्म-संविदे।
इष्टोपदेशमाचष्टे स्वशक्त्याशाधरः स्फुटम्॥

तत्रादौ यो यद्‌गुणार्थी स तद्‌गुणोपेतं पुरुषविशेषं नमोस्करोति इति परमात्मगुणार्थी ग्रन्थकर्ता परमात्मानं नमस्करोति, तद्यथा -

---

(टीकाकार का मङ्गलाचरण)

परमब्रह्म परमात्मा, पूर्ण ज्ञानघन-लीन।
वंदों परमानन्दमय, कर्म विभाव-विहीन॥ १॥

पूज्यपाद मुनिराज को, नमन करूँ मनलाय।
स्वात्म-सम्पदा के निमित्त, टीका करूँ बनाय॥ २॥

अर्थ :- निज आत्मसंवेदन के लिए परमात्मा को नमस्कार करके, अपनी शक्ति अनुसार, मुमुक्षु पण्डित आशाधर (टीका द्वारा) 'इष्टोपदेश' स्पष्ट समझाता है।

उसकी (ग्रन्थ की) आदि में, जो जिन गुणों का अर्थी है, वह उन गुणों युक्त पुरुष विशेष को नमस्कार करता है; इसलिए परमात्मा के गुणों के अर्थी ग्रन्थकर्ता (श्री पूज्यपादस्वामी) परमात्मा को नमस्कार करते हैं।

यस्य स्वयं स्वभावाप्तिरभावे कृत्स्नकर्मणः।
तस्मै संज्ञानरूपाय नमोऽस्तु परमात्मने॥ १॥

अस्तु भवतु। किं तत्? नमः-नमस्कारः कस्मै? तस्मै परमात्मने-परम अनाध्येया प्रहेयातिशयत्वात्सकलसंसारिजीवेभ्य उत्कृष्ट आत्मा चेतनः परमात्मा, तस्मै। किंविशिष्टाय, संज्ञान- रूपाय (संज्ञानं) सम्यक्सकलार्थसाक्षात्कारित्वादितदत्यन्त- सूक्ष्मत्वादीनामपि लाभात्कर्महंतृत्वादेरपि विकारस्य त्यागाच्च सम्पूर्णज्ञानं स्वपरावबोधस्तदेव रूपं यस्य-

---

वह इस प्रकार है :—

प्रगटा सहज स्वभाव निज, हुए कर्म-अरि नाश।
ज्ञानरूप परमात्म को, प्रणमूँ मिले प्रकाश॥ १॥

अन्वयार्थ :- (**यस्य**) जिनको, (**कृत्स्न कर्मणः अभावे**) सम्पूर्ण कर्मों का अभाव होने से, (**स्वयं स्वभावाप्तिः**) स्वयं स्वभाव की प्राप्ति हो गयी है, (**तस्मै**) उन (**संज्ञानरूपाय**) सम्यक्ज्ञानरूप (**परमात्मने**) परमात्मा को (**नमः अस्तु**) नमस्कार हो।

टीका :- हो, क्या वह? नमस्कार। किसको? उन परमात्मा को। अनारोपी अप्रतिहत अतिशयपने के कारण परम, अर्थात् सकल संसारी जीवों से उत्कृष्ट; और आत्मा, अर्थात् चेतन, वैसे परमात्मा को। कैसे (परमात्मा को)? सम्यक्ज्ञानरूप (परमात्मा को)-सम्यक् प्रकार से सर्व पदार्थों का साक्षात्कार करने से, अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थ आदि को जानने से तथा कर्मों के विनाशादि से, विकार के त्याग के कारण (प्राप्त हुआ है) सम्पूर्ण ज्ञान—स्व-पर का ज्ञान, वही जिनका स्वरूप है, उनको।

इस प्रकार आराध्य का-परमात्मा का स्वरूप कहकर, उसकी प्राप्ति का उपाय कहते हैं —

जिनको हुई। वह क्या? स्वभाव की प्राप्ति, अर्थात् स्वभाव की यानी निर्मल निश्चल चिद्रूप, उसकी प्राप्ति-लब्धि, कथञ्चित् तादात्म्य परिणति, कृतकृत्यपने के कारण स्वरूप में अवस्थिति — ऐसा अर्थ है। किस द्वारा? स्वयं सम्पूर्ण रत्नत्रयात्मक

तस्मै। एवमाराध्य-स्वरूपमुक्त्वा तत्प्राप्त्युपायमाह-यस्य अभूत् काऽसौ, स्वभावा-ऽऽप्तिः-स्वभावस्य निर्मलनिश्चलचिद्रूपस्य आप्तिर्लब्धिः कथंचित्तादात्म्यपरिणतिः-कृतकृत्यतया स्वरूपेऽवस्थिति-रित्यर्थः। केन? स्वयं-सम्पूर्णरत्नत्रयात्मनाऽऽत्मना। क्व सति? अभावे-शक्तिरूपतया विनाशे। कस्य? कृत्स्नकर्मणः-कृत्स्नस्य सकलस्यद्रव्यभावरूपस्य कर्मणः आत्मपारतंत्र्यनिमित्तस्य॥१॥

स्वस्य स्वयं स्वरूपोपलब्धिः कथमिति? स्वस्यात्मनः-अथ शिष्यः प्राह-स्वयं आत्मना स्वरूपोपलब्धिः स्वरूपस्य सम्यक्त्वादि-गुणाष्टकाभिव्यक्तिरूपस्य उपलब्धिः कथं केनोपायेन

आत्मा द्वारा। क्या होने पर? अभाव होने पर, अर्थात् शक्तिरूपपने विनाश होने पर। किसका? सम्पूर्ण कर्म का, अर्थात् आत्मा की परतन्त्रता के निमित्तभूत द्रव्य-भावरूप समस्त कर्मों का।

भावार्थ :- सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पूर्णता द्वारा, आत्मा की परतन्त्रता के कारणभूत समस्त कर्मों का — ज्ञानावरणादि आठ द्रव्यकर्मों का, राग-द्वेषादि भावकर्मों का और शरीरादि नोकर्मों का, जिनको सर्वथा अभाव है और जिन्होंने अपने चिदानन्द, विज्ञानघन, निर्मल, निश्चल, टङ्कोत्कीर्ण ज्ञायकरूप स्वभाव को प्राप्त किया है, वैसे अपने आराध्य सिद्धपरमात्मा को आचार्य ने नमस्कार किया है।

अष्ट कर्मरहित, अष्ट गुणसहित, शुद्ध, बुद्ध, निरञ्जन परमात्मा, वह आराधक के लिए सम्पूर्णता का आदर्श हैं। उस आदर्श को अपने में मूर्तिमन्त करना, वह नमस्कार करने का हेतु है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता ही सिद्धस्वरूप की प्राप्ति का उपाय है — ऐसा आचार्य ने गर्भितरूप से इस श्लोक में दर्शाया है॥१॥

अब शिष्य कहता है — 'अपने को स्वयं स्वरूप की प्राप्ति किस प्रकार हो? अपने आत्मा की स्वयं, अर्थात् आत्मा द्वारा स्वरूप की, अर्थात् सम्यक्त्वादि आठ गुणों की अभिव्यक्तिरूप (प्रगटतारूप) उपलब्धि (प्राप्ति) किस प्रकार, अर्थात् किस उपाय द्वारा होती है? कारण कि दृष्टान्त का अभाव है।'

(शिष्य के पूछने का आशय यह है कि स्व-स्वरूप की स्वयं प्राप्ति को सिद्ध

दृष्टान्ता-भावादिति? आचार्यः समाधत्ते :-

***योग्योपादानयोगेन दृषदः स्वर्णता मता (यथा)।**
द्रव्यादिस्वादिसंपत्तावात्मनोऽप्यात्मता मता ॥२॥

मता अभिप्रेता लोकेः। काऽसौ ? स्वर्णता सुवर्णभावः। कस्य ? दृषदः सुवर्णाविर्भाव-योग्यपाषाणस्य। केन ? योग्योपादानयोगेन-योग्यानां सुवर्णपरिणामकरणोचितानां उपादानानां कारणानां योगेन मेलापकेन संपत्त्या यथा। एव-मात्मानोऽपि पुरुषस्यापि न केवलं दृषदः इत्यपि शब्दार्थः। मता कथिता। कासौ ? आत्मता-आत्मनो जीवस्य भावो

करे, वैसे दृष्टान्त का अभाव है, तो दृष्टान्त बिना 'स्वयं स्वाभावाप्ति' — इस कथन को किस प्रकार सत्य माना जा सकता है?)

आचार्य उसका समाधान करते हैं :—

उपादान के योग से, उपल कनक हो जाय।
निज द्रव्यादि चतुष्कवश, शुद्ध आतमपद पाय॥ २॥

अन्वयार्थ :- **(यथा)** जैसे, **(योग्योपादानयोगेन)** योग्य उपादान (कारण) के योग से **(दृषदः)** पाषाण के (सुवर्ण पाषाण के) **(स्वर्णता)** सुवर्णपना **(मता)** मानने में आया है, [तथा] वैसे ही **(आत्मनः अपि)** आत्मा के भी **(द्रव्यादि स्वादिसम्पतौ)** सुद्रव्य, क्षेत्रादि व स्वद्रव्य-क्षेत्रादि की सम्पत्ति होते **(आत्मता)** आत्मापना, अर्थात् निर्मल निश्चल चैतन्यभाव **(मता)** मानने में आया है।

टीका :- लोग मानते हैं-अभिप्राय रखते हैं। वे क्या (मानते हैं) ? सुवर्णता -स्वर्णभाव। किसके (मानते हैं) ? पाषाण के, अर्थात् जिसमें सुवर्ण प्रगट होने की योग्यता है — ऐसे पाषाण के। किस द्वारा ? जैसे योग्य, अर्थात् सुवर्ण के परिणाम करने को उचित उपादानकारणों के योग से, अर्थात् मेलाप से-सम्पत्ति से (सुवर्णता का आविर्भाव मानते हैं); वैसे ही आत्मा के भी, अर्थात् पुरुष के भी (केवल पाषाण के ही नहीं, किन्तु पुरुष के भी-यह 'अपि' शब्द का अर्थ है।) मानने में आया है-

---

* **अइसोहणजोएणं सुद्धं हेमं हवेइ जह तह य। कालाईलद्धीए अप्पा परमप्पओ हवदि॥**

अर्थात्, जैसे सुवर्ण-पाषाण, सोधने की सामग्री के सम्बन्ध से शुद्ध सुवर्ण हो जाता है, वैसे ही काल आदि लब्धि — जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप सामग्री की प्राप्ति से यह आत्मा, कर्म के संयोग से अशुद्ध है, वही परमात्मा हो जाता है। *(श्रीमोक्षपाहुड, गाथा-२४)*

निर्मल-निश्चलचैतन्यं। कस्यां सत्यां द्रव्यादिस्वादिसंपत्तौ द्रव्यमन्वयि-भावः आदिर्येषां क्षेत्रकालभावनां ते च ते स्वादयश्च सुशब्दः स्वशब्दो वा आदिर्येषां ते स्वादयो द्रव्यादयश्च स्वादयश्च। 'इच्छातो विशेषणविशेष्यभावः इति समासः'। सुद्रव्यं सुक्षेत्रं सुकालः सुभाव इत्यर्थः। सुशब्दः प्रशंसार्थः प्राशस्त्यं चात्र प्रकृतकार्योपयोगित्वं द्रव्यादिस्वादीनां सम्पतिः संपूर्णता तस्यां सत्यां॥२॥

कहने में आया है। वह क्या (मानने में आया है)? आत्मता-आत्मा का-जीव का भाव-निर्मल-निश्चल चैतन्यभाव। क्या होने पर? द्रव्यादि-स्वादि की सम्पत्ति होते, द्रव्य-अन्वयिभाव आदि-जो क्षेत्र-काल-भाव आदि हैं, उनकी आदि में द्रव्य है, वह (द्रव्यादि) तथा स्वादि, अर्थात् सुशब्द अथवा स्वशब्द जिनकी आदि में, वह सुआदि द्रव्यादि और स्वादि द्रव्यादि-इच्छानुसार विशेषण-विशेष्यभावरूप समास सुभाव, ऐसा अर्थ है। सुशब्द प्रशंसा के अर्थ में है। प्रकृत (मुख्य) कार्य का उपयोगीपना, वह प्रशस्तपना है। द्रव्यादि-स्वादि की, अर्थात् स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की सम्पत्ति, अर्थात् सम्पूर्णता-यह होने पर (आत्मा को, निर्मल चैतन्यस्वरूप आत्मा की प्राप्ति होती है)॥२॥

भावार्थ :- अनादि काल से सुवर्ण पाषाण में सुवर्णपना शक्तिरूप से विद्यमान है। जैसे, उसे स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप योग्य उपादानकारण का (कार्योत्पादन के समर्थकारण का) योग बनने से वह सुवर्ण व्यक्तिरूप से प्रगट हो जाता है; वैसे ही इस आत्मा में भी शुद्ध निश्चयनय से केवलज्ञान-दर्शनादि स्वभाववाला परमात्मा शक्तिरूप से स्थित है, उसे स्वद्रव्यादिरूप कारण का योग बनने से वह व्यक्तिरूप स्वयं परमात्मा बनता है, अर्थात् यह आत्मा निज उपादान शक्ति से ही परमात्मा बनता है।

- विशेष स्पष्टीकरण -

निज उपादान से ही कार्य होता है। इस सन्दर्भ में समाधितन्त्र श्लोक (९९) की टीका में टीकाकार लिखते हैं — 'परमार्थ से स्वतः ही (अपने द्वारा ही) आत्मा से ही (परमात्मपद की प्राप्ति होती है), किन्तु गुरु आदि बाह्य निमित्तों द्वारा नहीं।'

प्रस्तुत श्लोक में 'स्वतः एव' शब्द अत्यन्त अर्थसूचक हैं। वे बतलाते हैं कि परमात्मा की प्राप्ति अपने से ही, अपने में से ही, अपने पुरुषार्थ से ही होती है; उसमें तीर्थंकर भगवान आदि की दिव्यध्वनि, गुरु का उपदेशादि बाह्य निमित्त होने पर भी, उन निमित्तों से निरपेक्षपने परमपद की प्राप्ति होती है।

तर्हि व्रतादीनामानर्थक्यमिति तन्नेति-अथ शिष्यः प्राह भगवन्! यदि सुद्रव्यादिसामाग्रयां सत्यामेवायमात्मा स्वात्मानमुप-लप्स्यते तर्हि व्रतानि हिंसाविरत्यादीनि आदयो येषां समित्यादीनां तेषामानर्थक्यं निष्फलत्वं स्यादभिप्रेतायाः स्वात्मोपलब्धेः सुद्रव्यादि-सम्पत्त्यपेक्षत्वादित्यर्थः।

अत्राचार्यो निषेधमाह-तन्नेति। वत्स! यत्त्वया शंकितं व्रतादीना-मानर्थक्यं तन्न-तन्न भवति। तेषामपूर्वशुभकर्मनिरोधेनोपार्जिताशुभकर्मैकदेश क्षपणेन च सफलत्वात्तद्विषयरागलक्षण-

---

निमित्त होने पर भी उपादान का परिणमन निमित्त से निरपेक्ष होता है। विकारी और अविकारी पर्याय के सन्दर्भ में 'जयधवल' पुस्तक ७ में कहा है —

'बज्झकारण निरपेक्खो वत्थु परिणामो।'

वस्तु के परिणाम बाह्य कारणों से निरपेक्ष होते हैं।

(पृष्ठ ११७, पैरा २४४)

उपादान, वस्तु की सहजशक्ति है और निमित्त तो संयोगरूप कारण है। कार्य अपने उपादान से ही होता है, उस समय उसके अनुकूल निमित्त होता ही है; उसे खोजने या संग्रह करने की व्यग्रता की आवश्यकता होती ही नहीं।

तत्पश्चात् शिष्य कहता है, 'भगवान! तब तो व्रतादि निरर्थक सिद्ध होंगे (अर्थात्), यदि सुद्रव्यादिरूप सामग्री के होते ही यह (संसारी) आत्मा अपने आत्मस्वरूप को प्राप्त करेगा तो व्रत, अर्थात् हिंसाविरति जिसके आदि में हैं, वे समिति आदि निरर्थक-निष्फल बन जाएँगे, क्योंकि (आपके कथनानुसार) वांछित स्वात्मा की उपलब्धि (प्राप्ति), सुद्रव्यादि-सम्पत्ति की अपेक्षा रखती है — ऐसा अर्थ है (अर्थात्, स्वद्रव्यादि-स्वचतुष्टयरूप सामग्री से ही स्वस्वरूप की प्राप्ति हो जाएगी तो अहिंसादि व्रतों का तथा समिति आदि का अनुष्ठान निरर्थक हो जाएगा)।'

यहाँ आचार्य इसका निषेध करके कहते हैं कि :—

हे वत्स! ऐसा नहीं है। तुमने जो व्रतादि की निष्फलता के विषय में शङ्का की है, वह ठीक नहीं है क्योंकि नये अशुभकर्मों के निरोध से और उपार्जित अशुभकर्मों के एकदेश क्षपण से वे सफल हैं; इतना ही नहीं किन्तु उस विषय सम्बन्धी (व्रत सम्बन्धी) अनुराग से उत्पन्न पुण्य, स्वर्गादिक पद की प्राप्ति में निमित्त होने से उनकी (व्रतादि की) सफलता है। इसी बात को स्पष्ट करने के लिये आचार्य कहते हैं—

(आशय यह है कि धर्मी जीव को सुद्रव्यादि के योग से जितने अंश में शुद्धि

शुभोपयोग-जनितपुण्यस्य च स्वर्गादिपदप्राप्तिनिमित्तत्त्वात् एतदेव च व्यक्तीकर्त्तुं वक्ति :-

***वरं व्रतैः पदं दैवं नाऽव्रतैर्वत नारकम्।**
छायातपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान् ॥३॥

वरं भवतु। किं तत् ? पदं-स्थानं। किंविशिष्टं ? दैवं-देवानामिदं दैवं, स्वर्गः कैर्हेतुभिः ? व्रतैःर्व्रतादिविषयरागजनितपुण्यैः तेषां स्वर्गादिपदाभ्युदयनिबंधनत्वेन सकलजनसुप्रसिद्ध-

प्रगट होती है, उतने अंश में तो नये कर्मों का निरोध होता है, किन्तु अशुभभाव से बचने के लिए, अस्थिरता के कारण जितने अंश में व्रतादि का शुभभाव आता है, उतने अंश में उसके निमित्त से शुभकर्मों का बन्ध होता है और पूर्वोपार्जित अशुभकर्मों में से कितने ही कर्मों का संक्रमण होकर वे शुभकर्मरूप / पुण्यकर्मरूप परिणमित होते हैं। पुण्यकर्म के फलस्वरूप स्वर्गादिक की प्राप्ति होती है, इस कारण इस अपेक्षा व्रतादिक की सफलता है, किन्तु उनसे संवर-निर्जरा नहीं होती होने की अपेक्षा से, उनकी असफलता है।)

मित्र राह देखत खड़े, इक छाया इक धूप।
व्रत-पालन से स्वर्ग गति, अव्रत दुर्गति कूप॥ ३॥

अन्वयार्थ :- (**व्रतैः**) व्रतों द्वारा (**दैवं पदं**) देवपद प्राप्त करना (**वरं**) अच्छा है, (**वत**) परन्तु अरे! (**अव्रतैः**) अव्रतोंद्वारा (**नारकं पदं**) नरकपद प्राप्त करना (**न वरं**) अच्छा नहीं है। जैसे, (**छायातपस्थयोः**) छाया और ताप में बैठकर (**प्रतिपालयतोः**) मित्र की राह देखनेवाले दोनों (पुरुषों) में (**महान भेदः**) महान अन्तर है; इसी तरह (व्रत और अव्रत का आचरण करनेवाले दोनों पुरुषों में महान अन्तर है।)

टीका :- अच्छा है। वह क्या (अच्छा है) ? पद-स्थान। कैसा (पद) ? देवों का पद, अर्थात् स्वर्ग। किन हेतुओं द्वारा ? व्रतों द्वारा। कारण कि व्रतादि विषयसम्बन्धी

* **वर वयतवेहि सग्गो मा दुक्खं होउ णिरइ इयरेहिं। छायातवट्ठियाणं पडिवालंताण गुरुभेयं॥**

अर्थात्, व्रत और तप से स्वर्ग होता है, वह श्रेष्ठ है परन्तु अव्रत और अतप से प्राणी को नरकगति में दुःख होता है वह मत होवे, श्रेष्ठ नहीं है। छाया और आतप में बैठनेवाले के प्रतिपालक कारणों में बड़ा भेद है।

(श्री मोक्षपाहुड, गाथा-२४)

त्वात्। तर्ह्यव्रतान्यपि तथाविधानि भविष्यंतीत्याशंक्याह-नेत्यादि। न न वरं भवति। किं तत्? पदं, किंविशिष्टं? नारकं-नरकसंबंधि। कैः? अव्रतैः हिंसादिपरिणामजनितपातकैः, वतेतिखेदे कष्टे वा। तर्हि व्रताव्रतनिमित्तयोरपि देवनारकपक्षयोः साम्यं भविष्यति इत्याशंकायां तयोर्महदंतरमिति दृष्टान्तेन प्रकटन्नाह- 'छायेत्यादि' भवति। कोऽसौ, भेदः अन्तरं। किंविशिष्टो? महान् बृहत्। कयोः पथिकयोः। किं कुर्वतोः? स्वकार्यवशान्नग-रांतर्गतं तृतीयं स्वसार्थिकमागच्छंतं पथि प्रतिपालयतोः प्रतीक्ष-माणयोः। किंविशिष्टयोः सतोः छायाऽऽतपस्थयोः-छाया च आतपश्च छायातपौ तयो स्थितयोः। अयमर्थः यथैव छायास्थित-

राग से उत्पन्न पुण्यों से स्वर्गादि पदरूप अभ्युदय का सम्बन्ध होता है, जो सकलजनों में सुप्रसिद्ध है।

तब शिष्य आशङ्का करते हुए कहता है, 'अव्रत भी उसी प्रकार के होंगे'?

'नहीं, इत्यादि।' वह अच्छा नहीं है। वह क्या? पद। कैसा (पद)? नरक सम्बन्धी (पद)। किस द्वारा (प्राप्त हुआ)? अव्रतों से, अर्थात् हिंसादि परिणामों से उत्पन्न हुए पाप द्वारा (प्राप्त हुआ), ('वत' शब्द खेद-कष्ट के अर्थ में है) अरे! तो व्रत और अव्रत जिनका निमित्त है — ऐसे देव और नरक, इन दो पक्षों में समानता आयेगी — ऐसी शिष्य की आशङ्का होने पर, 'इन दोनों में महान् अन्तर है,' — ऐसा छाया इत्यादि दृष्टान्त द्वारा प्रगट करके (आचार्य) कहते हैं-वह कौन? भेद-अन्तर, कैसा? महान्-बड़ा। किन दोनों के मध्य? दो पथिकों के मध्य। क्या करते? अपने कार्य के लिये नगर में गये हुए और वहाँ से वापिस आते अपने दूसरे साथी की मार्ग में प्रतीक्षा करते-राह देखते। कैसे हैं वे दोनों? छाया और धूप में बैठे हुए। इसका अर्थ इस प्रकार है — तीसरे साथी के आगमन काल तक, जैसे छाया में बैठा हुआ (पथिक) सुख से बैठता है और धूप में बैठा हुआ (पथिक) दुःख से बैठता है, वैसे ही जहाँ तक सुद्रव्यादि मुक्ति के कारण प्राप्त हों, वहाँ तक व्रतादिक आचरण करनेवाला यह आत्मा-जीव स्वर्गादि स्थानों में सुख से रहता है और दूसरा (अव्रतादिरूप आचरणवाला) नरकादि स्थानों में दुःख से रहता है॥३॥

भावार्थ *:- जैसे, छाया में बैठकर अपने मित्र की राह देखनेवाला पथिक, सुखी होता है और धूप में बैठकर उसकी राह देखनेवाला अन्य पथिक, दुःखी होता है; वैसे*

स्तृतीयागमनकालं यावत्सुखेन तिष्ठति आतपस्थितश्च दुःखेन तिष्ठति तथा व्रतादि कृतानि (कुर्वन्) स आत्मा-जीवः सुद्रव्यादयो मुक्तिहेतवो यावत्संपद्यते (न्ते) तावत्स्वर्गादिपदेषु सुखेन तिष्ठति अन्यश्च नरकादिपदेषु दुःखेनेति॥३॥

एवमात्मनि भक्तिरयुक्ता स्यादिति-अथ विनेयः पुनराशंकते भगवन्! एवं चिरभाविमोक्षसुखस्य व्रतसाध्ये संसारसुखे सिद्धे सत्यात्मनि चिद्रूपे भक्तिः भावविशुद्ध आंतरोऽनुराग अयुक्ता अनुपपन्ना स्याद्भवेत्। तत्साध्यस्य मोक्षसुखस्य सुद्रव्यादिसंपत्यपेक्षया दूरवर्तित्वादवांतरप्राप्यस्य च स्वर्गादिसुखस्य व्रतैकसाध्यत्वात् इति।

अत्राप्याचार्यः समाधत्ते-तदपिनेति-न केवलं व्रतादीनामानर्थक्यं भवेत् किं तर्हि? तदपि आत्मभक्त्यनुपपत्तिप्रकाशनमपि त्वया क्रियमाणं न साधुः स्यादित्र्थः। यतः -

---

ही सम्यग्दृष्टि जीव, जब निर्विकल्पदशा में नहीं रह पाता, तब उसे व्रतादि पालन का शुभभाव हेयबुद्धिपूर्वक आता है और उस शुभभाव के निमित्त से वह स्वर्गादिक में सुख भोगता है। नरक जानेयोग्य भाव, सम्यग्दृष्टि के होते ही नहीं, किन्तु हिंसादि अव्रत के अशुभभाव करनेवाले मिथ्यादृष्टि जीव, नरकादि स्थानों में दुःख भोगते हैं।

अतः व्रतादि का पालन, स्वर्गादि सुख की अपेक्षा सार्थक है।

अब, शिष्य पुनः आशङ्का करता है :—

इस प्रकार आत्मा की भक्ति अयुक्त (अयोग्य) सिद्ध होगी, अर्थात् भगवान! इस प्रकार मोक्षसुख चिरभावी (दीर्घकालीन साध्य) होगा और व्रतों से साध्य संसार का सुख तो सिद्ध है; अतः चिद्रूप आत्मा में भक्तिभाव, अर्थात् विशुद्ध अन्तरङ्ग अनुराग करना, अयुक्त-अघटित बनेगा, क्योंकि उससे साध्य मोक्षसुख, सुद्रव्यादि सामग्री की अपेक्षा रखता होने से, दूरवर्ती होगा और व्रतों द्वारा अवान्तर (बीच में) प्राप्त स्वर्गादि का सुख, एक साध्य होगा।

यहाँ भी आचार्य समाधान करते हैं —

ऐसा भी नहीं है क्योंकि व्रतादि की निष्फलता नहीं बने, इतना ही नहीं किन्तु वैसे होने पर तू जो आत्मभक्ति को अयुक्त बतलाता है, यह भी ठीक नहीं है — ऐसा अर्थ है, क्योंकि —

यत्र भावः शिवं दत्ते द्यौः कियद्दूरवर्तिनी।
यो नयत्याशु गव्यूतिं क्रोशार्धे किं स सीदति॥ ४॥

यत्र आत्मनि विषये भावः प्रणिधानं, कर्त्तादत्ते प्रयच्छति। किं ? तच्छिवं मोक्षं। भावु (व) काय-भव्याय इति शेषः। तस्यात्मविषयस्य शिवदानसमर्थस्यभावस्य द्यौः स्वर्गः कियद्दूरवर्तिनी-कियद्दूरे किंपरिमाणे व्यवहितदेशे वर्तते ? निकट एव तिष्ठतीत्यर्थः। स्वात्मध्यानोपात्तपुण्यस्य तदेक-फलत्वात्। तथा चोक्तं (तत्त्वानुशासने) :-

गुरुपदेशमासाद्य ध्यायमानः समाहितैः।
अनंतशक्तिरात्माऽयं मुक्तिं भुक्तिं च यच्छति॥ १९६॥

जिन भावों से मुक्तिपद, कौन कठिन है स्वर्ग।
वहन करे दो कोश जो, कठिन कोश क्या अर्ध॥ ४॥

अन्वयार्थ :- **(यत्र)** जहाँ, **(भावः)** आत्मभाव (भव्यजीवों को) **(शिवं)** मोक्ष **(दत्ते)** देता है, **(तत्र)** वहाँ **(द्यौः)** स्वर्ग **(कियद्दूरवर्तिनी)** कितना दूर है ? (कुछ दूर नहीं, अर्थात् नजदीक ही है)। **(यः)** जो (मनुष्य) भार को **(गव्यूतिं)** दो कोश तक **(आशु)** जल्दी **(नयति)** ले जाता है, **(सः)** वह मनुष्य (उस भार को) **(क्रोशार्धे)** अर्ध कोश ले जाने में **(किं सीदति)** क्या थक जाएगा-खिन्न होगा ? (नहीं; खिन्न नहीं होगा)।

टीका :- जहाँ, अर्थात् आत्मविषय में भाव (आत्मध्यान) देता है, प्रदान करता है, भव्यजीव को शिव, अर्थात् मोक्ष (देता है)। मोक्ष प्रदान करने में समर्थ है, उस आत्मध्यान से स्वर्ग कितना दूर है ? कितना दूर, अर्थात् कितने फासले पर रहे हुए क्षेत्र में वर्तता है ? निकट ही रहता है — ऐसा अर्थ है क्योंकि स्वात्मध्यान के साथ उपार्जित पुण्य का यह एक फल है।

तथा तत्त्वानुशासन में कहा है कि :—

'गुरु का उपदेश प्राप्त कर सावधान हुए प्राणियों द्वारा ध्याने में आया हुआ यह अनन्त शक्तिवाला आत्मा, (आत्मध्यान करनेवाले को) भुक्ति (भोग) और मुक्ति प्रदान करता है।' *(श्लोक १९६)*

ध्यातोऽर्हत्सिद्धरूपेण चरमांगस्य मुक्तये।
तद्धयानोपात्तपुण्यस्य स एवान्यस्य भुक्तये॥ १९७॥

अमुमेवार्थं दृष्टान्तेन स्पष्टयन्नाह-य इत्यादि। यो वाहीको नयति प्रापयति किं ? स्वबाह्यं भारं। कां ? गव्यूतिं क्रोशयुगं। कथं ? आशु शीघ्रं स किं क्रोशार्द्धे स्वभारं नयन् सीदति खिद्यते ? न खिद्यत इत्यर्थः। महाशक्तावल्पशक्तेः सुघटत्वात्।

यह आत्मा, अरिहन्त और सिद्ध के रूप में चिन्तवन करने में (ध्याने में) आने पर, चरमशरीरी को मुक्ति प्रदान करता है और उसके ध्यान के साथ पुण्य उपार्जित करनेवाले अन्य को वह भुक्ति (अर्थात्, स्वर्ग-चक्रवर्ती के भोग इत्यादि) प्रदान करता है। *(श्लोक १९७)*

इसी अर्थ को दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करके कहते हैं — **(य इत्यादि)** जो, अर्थात् भारवाहक ले जाता है। क्या ? अपने से उठनेवाला भार। कहाँ तक ? दो कोश तक। किस प्रकार ? शीघ्र-जल्दी। तो क्या वह अपने भार (वजन) को आधा कोश ले जाते हुए खेद पायेगा ? खेद नहीं पायेगा — ऐसा अर्थ है, क्योंकि महाशक्ति में अल्पशक्ति का (समावेश) भलीभाँति घटित होता है। (अर्थात्, महाशक्तिवाले को अल्पशक्ति सहज होती ही है।) ॥४॥

भावार्थ :- *जिस शुद्धोपयोगरूप आत्मपरिणाम में मोक्षसुख प्राप्त करने की सामर्थ्य है, उस भूमिका में सहचर शुभराग से स्वर्गादि की प्राप्ति सहज होती है। जो मनुष्य एक मन (४० किलो) वजन दो कोश तक ले जा सके, इतनी शक्तिवाला है तो क्या वह उतना वजन आधे कोश तक ले जाने में थक जाएगा ? नहीं थकेगा। इसी प्रकार जिस जीव ने पूर्णता के लक्ष्य से-मोक्षसुख के लिये पुरुषार्थ किया है, क्या उसको स्वर्गादिक की प्राप्ति कठिन है ? नहीं, वह सुलभ ही है।*

जो जीव, चरमशरीरी है; अर्थात्, उसी भव से मोक्ष प्राप्त करने की योग्यतावाला है, वह तो आत्मध्यानादि के उग्र पुरुषार्थ द्वारा मोक्षसुख पाता है किन्तु जो जीव अचरमशरीरी हैं, अर्थात् उसी भव से मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते, वे अरिहन्त -सिद्धरूप से निजात्मा का ध्यान करके, उस भूमिका में जो पुण्य उपार्जित करते हैं, उसके फलस्वरूप उन्हें स्वर्ग-चक्रवर्ती इत्यादि की विभूति प्राप्त होती है।

स्वर्गे गतानां किं फलामिति? अथैवमात्मभक्ते: स्वर्गगतिसाधनत्वेऽपि समर्थिते प्रतिपाद्यस्तत्फल जिज्ञासया गुरुं पृच्छति स्पष्टं गुरूरुत्तरयति :-

हृषीकजमनातंकं　दीर्घकालोपलालितम्।
नाके नाकौकसां सौख्यं नाके नाकौकसामिव॥ ५॥

वत्स! अस्ति, किं तत्? सौख्यं शर्म्म। केषां? नाकौकसां देवानां न पुनः स्वर्गेऽपि जातानामेकेंद्रियाणां। क्व वसतां? नाके स्वर्गे न पुनः क्रीडादिवशाद्रमणीयपर्वतादौ। किमतीद्रियं? तन्नेत्याह-हृषीकजं हृषीकेभ्यः समीहितानंतरमुपस्थितं निजं, निजं

इस प्रकार आत्मध्यानादि से भुक्ति और मुक्ति की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार आत्मभक्ति में स्वर्गगति का भी साधनपना है — ऐसा समर्थन किये जाने पर, शिष्य उसके फल की जिज्ञासा से गुरु से पूछता है — 'स्वर्ग जानेवालों को क्या फल मिलता है?'

आचार्य उसका स्पष्ट रीति से उत्तर देते हुए कहते हैं :—

भोगें सुरगण स्वर्ग में, अनुपमेय सुख-भोग।
निरातङ्क चिरकाल तक, हो अनन्य उपभोग॥ ५॥

अन्वयार्थ :- **(नाके नाकौकसाम्)** स्वर्ग में बसनेवाले देवों को जो **(सौख्यं)** सुख होता है, वह **(नाके नाकौकसाम् इव)** स्वर्ग में रहे हुए देवों के जैसा **(हृषीकजं)** इन्द्रियों जनित, **(अनातंक)** आतङ्क (शुत्रओं आदि द्वारा उत्पन्न होनेवाले दु:ख) रहित, **(दीर्घकालोपलालितं)** दीर्घकाल तक (तैंतीस सागर पर्यन्त) भोगने में आवे, वैसा होता है।

टीका :- हे वत्स! वह क्या? सुख-शर्म। किसको (है)? स्वर्ग में स्थित देवों को; न कि स्वर्ग में भी उत्पन्न हुए एकेन्द्रिय जीवों को। कहाँ बसते? स्वर्ग में; न कि क्रीड़ादिक के कारण से रमणीय पर्वतादि में (बसते)। क्या वह अतीन्द्रिय (सुख) है? (उत्तर में) कहते हैं — 'नहीं' इन्द्रियों से उत्पन्न हुआ। इच्छा के अनन्तर इन्द्रियों द्वारा उपस्थित हुआ, अर्थात् अपने-अपने विषय को अनुभवती स्पर्शनादि इन्द्रियों द्वारा सर्वाङ्गीण (सर्व अङ्गों में व्यापक) हर्षरूप प्रगट हुआ वह सुख है।

विषयमनुभवद्भ्यः स्पर्शनादींद्रियेभ्यः जातं सर्वांगीणाल्हादना-कारतया प्रादुर्भूतं तथा राज्यादिसुखवत्सातकं भविष्यतीत्याशंकापनोदार्थमाह-अनातङ्कं न विद्यते आतङ्कः प्रतिपक्षादिकृतश्चित्त-क्षोभो यत्र तं तथापि भोगभूमिजसुखवदल्पकालभोग्यं भविष्य - तीत्याशंकायामाह-वीर्घकालोपलालितं-दीर्घकालं सागरोपमपरिछिन्नकालं यावदुपलालित-माज्ञाविधेयदेवदेवीस्वविलासि-नीभिः क्रियमाणोपचारत्वात् उत्कर्षं प्रापितं। तर्हि क्व केषामिव तद्? इत्याह-नाके नाकौकसामिव स्वर्गेदेवानां यथा अनन्योपम-मित्यर्थः।

तथा वह सुख, राज्यादिक के सुख के समान आतङ्क (चित्तक्षोभ) वाला होगा? — इस आशङ्का के समाधान के लिये आचार्यदेव कहते हैं —

(वह सुख) अनातङ्क, अर्थात् जिसमें आतङ्क, अर्थात् शत्रु आदि कृत चित्तक्षोभ न हो — ऐसा है।

तथापि क्या वह सुख भोगभूमि में उत्पन्न हुए सुख की भाँति अल्प काल भोगने योग्य होगा? — ऐसी आशङ्का होने पर आचार्य कहते हैं —

(वह सुख) दीर्घकाल तक भोगने में आता है। दीर्घकाल, अर्थात् सागरोपम से ज्ञात काल तक; उपलालित, अर्थात् आज्ञाकारी देव-देवियों, अर्थात् स्वर्ग की विलासनियों द्वारा की जानेवाली सेवाओं से उत्कर्ष (वृद्धि) प्राप्त सुख।

शिष्य पूछता है, तब वहाँ किसके जैसा सुख है?

स्वर्ग में निवास करनेवाले देवों का सुख, स्वर्गवासी देवों के (सुख) जैसा होता है, अर्थात् वह सुख अनन्योपम (जिसकी अन्य के साथ उपमा नहीं हो सकती ऐसा) होता है — ऐसा अर्थ है॥५॥

भावार्थ :- *यह स्वर्गीय सुख, अतीन्द्रिय नहीं, किन्तु इन्द्रियजनित है तथापि वह इन्द्रियजनित सुखों में अनुपम है क्योंकि वह राज्यादि के सुख जैसा चित्तक्षोभ करे, वैसा नहीं है और देव वह सुख अपनी देवियों के साथ सागरोपम काल तक भोगते हैं, वह भोगभूमि के सुख की तरह अल्पकालीन नहीं है।*

यहाँ शिष्य पूर्वपक्ष लेकर पूछता है, 'यदि स्वर्ग में भी उत्कृष्ट सुख है तो मोक्ष के लिये प्रार्थना की क्या आवश्यकता है?' भगवान! न केवल मोक्ष में, किन्तु स्वर्ग

यदि स्वर्गेऽपि सुखमुत्कृष्टं, किमपवर्गप्रार्थनया इति-अत्र शिष्यः प्रतिवतिष्ठते, भगवन्! यदि चेत् स्वर्गेऽपि न केवलमपवर्गे-सुखमस्ति कीदृशं? उत्कृष्टं मर्त्यादि सुखातिशायि तर्हि, किं कार्यं? कया? अपवर्गस्य मोक्षस्य प्रार्थनया-अपवर्गो मे भूयादित्यभिलाषेण।

एवं च संसारसुख एव निर्बन्धं कुर्वन्तं प्रबोध्यं तत्सुखदुःखस्य भ्रांतत्वप्रकाशनाय आचार्यः प्रबोधयति :-

वासनामात्रमेवैतत्सुखं दुःखं च देहिनां।
तथा ह्यु द्वेजयंत्येते भोगा रोगा इवाऽऽपदि॥ ६॥

एतत् प्रतीयमानं ऐद्रिंयकं सुखं दुःखं चास्ति। कीदृशं? वासनामात्रमेव जीवस्योपकार-कत्वापकारकत्वाभावेन परमार्थतो देहादौ उपेक्षणीये तत्त्वानवबोधात् इदं ममेष्टमुपकारकत्वात् इदं चानिष्टमपकारकत्त्वादिति विभ्रमाज्जातः संस्कारो वासना, इष्टानिष्टार्थानुभवानंतरमुद्भूतः

में भी सुख हो–कैसा? उत्कृष्ट—मनुष्यादि के सुख को टपक जाए, ऐसा हो तो उसका क्या प्रयोजन? किसका? 'मुझे मोक्ष दो, (मोक्ष की प्राप्ति हो)' — ऐसा अपवर्ग, अर्थात् मोक्ष की अभिलाषारूप प्रार्थना का (क्या प्रयोजन)?

इस प्रकार संसार सम्बन्धी सुख का ही आग्रह रखनेवाले शिष्य को, संसार सम्बन्धी सुख-दुःख का भ्रान्तिपना प्रकाशित करते हुए आचार्यदेव समझाते हैं :—

सुख-दुःख केवल देह की, मात्र वासना जान।
करें भोग भी विपत्ति में, व्याकुल रोग-समान॥ ६॥

अन्वयार्थ :- (**देहिनां**) देहधारियों के (**एतत् सुखं दुखं च**) वह सुख -दुःख (**वासनामात्रं एव**) केवल वासनामात्र ही होता है। (**तथाहि**) तथा (**एते भोगाः**) वह (सुख-दुःखरूप) भोग, (**आपदि**) आपत्ति के समय (**रोगाः इव**) रोगी की तरह (प्राणियों को) (**उद्वेजयन्ति**) उद्वेलित (आकुलित) करते हैं।

टीका :- प्रतीति करने में आता हुआ वह इन्द्रियजनित सुख, दुःख ही है। (वह) कैसा है? (वह) केवल वासनामात्र है। जीव को (देहादिक पदार्थ) उपकारक तथा अपकारक नहीं होने से; परमार्थ से देहादिक (पदार्थ) के विषय, वे उपेक्षणीय हैं। उसमें तत्त्वज्ञान के अभाव से, 'यह मुझे उपकारक होने से इष्ट है तथा अनुपकारक

स्वसंवेद्य आभिमानिकः परिणामो। वासनैव, न स्वाभाविकमात्मस्वरूपमित्यन्ययोग-व्यवच्छेदार्थो मात्र इति, स्वयोगव्यवस्थापकश्चैव शब्दः। केषां एतदेवंभूतमस्ति इत्याहदेहिनांदेह एवात्मत्त्वेन गृह्यमाणो अस्ति येषां ते देहिनो बहिरात्मानस्तेषां। एतदेव समर्थयितुमाह-तथाहीत्यादि। उक्तार्थस्य दृष्टान्तेन समर्थनार्थस्तथाहीति शब्दः। उद्वेजयंति-उद्वेगं कुर्वन्ति न सुखयन्ति। के ते? एते सुख-जनकत्वेन लोके प्रतीता भोगाः रमणीयरमणीप्रमुखाः इंद्रियार्थाः। क इव? रोगा इव ज्वरादिव्याधयो यथा। कस्यां सत्यामापदि-दुर्निवारवैरिप्रभृतिसंपादित दौर्मनस्यलक्षणायां विपदि। तथा चोक्तम्-

---

होने से अनिष्ट है' — ऐसे विभ्रम से उत्पन्न हुआ संस्कार, वह वासना है। वह (वासना) इष्ट-अनिष्ट पदार्थों के अनुभव के अनन्तर उत्पन्न हुआ स्वसंवेद्य अभिमानयुक्त परिणाम है। यह वासना ही है; स्वाभाविक आत्मस्वरूप नहीं।

इस प्रकार अन्य के योग का व्यवच्छेद (अभाव) दर्शाने के अर्थ में 'मात्र' शब्द है और स्व का योग (सम्बन्ध) बतलाने के अर्थ में 'एव' शब्द है।

(शिष्य ने) पूछा — ऐसा (सुख-दुःख) किसे होता है? देहधारियों को, अर्थात् जो देह को ही आत्मारूप में ग्रहण करते हैं, उन देही बहिरात्माओं-उन्हें (वैसी सुख-दुःख की कल्पना होती है)।

इसी के समर्थन में कहते हैं '**तथाहीत्यादि**।'

उक्त अर्थ का दृष्टान्त द्वारा समर्थन के लिये 'तथाहि' शब्द है। उद्वेलित करता है, अर्थात् उद्वेग करता है; सुखी नहीं करता। वह कौन? 'वह सुख उत्पन्न करता है' — ऐसा लोक में प्रतीत हुआ (मानने में आया हुआ) भोग, अर्थात् रमणीय स्त्री आदि इन्द्रिय पदार्थ। किसकी तरह (उद्वेग करते हैं)? रोगों की तरह-ज्वरादि व्याधियों की तरह। क्या होने पर? आपत्ति आ पड़ने पर, अर्थात् दुर्निवार शत्रु आदि द्वारा की जानेवाली चित्तक्षोभ लक्षणवाली विपत्ति आ पड़ने पर। तथा कहा है कि —

(इस श्लोक में एक युगल के वार्तालाप द्वारा यह बतलाया है कि जो विषय पहले सुखकर लगते थे, मन दुःखी होने से वे अब दुःखकर लगते हैं)। चिन्तामग्न पति, अपनी पत्नी से कहने लगा —

'मुञ्चाऽङ्ग ग्लपयस्यलं क्षिप कृतोऽप्यक्षाश्च विद्भात्यदो,
दूरे धेहि न हृष्य एष (व) किमभूरन्या न वेत्सि क्षणम्।
स्थेयं चेद्धि निरुंधि गामिति तवोद्योगे द्विषः स्त्री क्षिप-
न्त्याश्लेषकमुकाङ्गरागललितालापैर्विधित्सू रतिम्॥'

अपि च -

'रम्यं हर्म्यं चन्दनं चन्द्रपादा, वेणुर्वीणा यौवनस्था युवत्यः।
नैते रम्या क्षुत्पिपासार्दितानां, सर्वारंभास्तंदुलप्रस्थमूलाः॥'

तथा -

'आतपे धृतिमता सह वध्वा यामिनीविरहिणा विहगेन।
सेहिरे न किरणाहिमरश्मेदुःस्थिते (खिते) मनसि सर्व्वमसह्यम॥'

'मेरे अङ्ग को छोड़, तू मुझे सन्ताप पैदा करती है, हठ जा; मुझे आनन्द नहीं होता, तेरी इन क्रियाओं से मेरे सीने में दर्द उत्पन्न होता है, दूर जा। तब कोहनी मारते हुये पत्नी कहती है — क्या अन्य स्त्री के साथ प्रीति की है? पति कहता है-तू समय नहीं देखती। यदि धैर्य हो तो प्रयत्नपूर्वक इन्द्रियों को वश में रख — ऐसा कहकर वह पत्नी को दूर कर देता है।'

तथा, **'रम्यं हर्स्ये..........'**

सुन्दर महल, चन्दन, चाँदनी (चन्द्रमा की किरणें) वेण, वीणा तथा यौवन सम्पन्न युवतियाँ इत्यादि भूख-प्यास से पीड़ित व्यक्तियों को रम्य नहीं लगतीं, क्योंकि (जीवों के) सर्व आरम्भों में तन्दुलप्रस्त यह मूल बात है। (अर्थात्, घर में भोजन के लिये तन्दुल हों तो ही ये सब पदार्थ सुन्दर लगते हैं; अन्यथा नहीं)

तथा **'आतपे घृतिमता..........'**

एक पक्षी अपनी प्रिया के साथ धूप में रहते हुए भी सुख मानता था, परन्तु जब रात्रि के समय वह अपनी प्रिया से बिछुड़ गया, तब उसके वियोग में चन्द्रकिरणें भी उसे सन्तापकारक लगने लगीं, क्योंकि मन दुःखी होने पर, सब असह्य हो जाता है; अच्छा नहीं लगता — इत्यादि।

इत्यादि, अतो ज्ञायते ऐन्द्रियकं सुखं वासनामात्रमेव, नाऽऽत्मनः स्वाभाविका-ऽनाकुलत्वस्वभावं। कथमन्यथा लोके सुख -जनकत्वेन प्रतीतानां अपि भावानां दुःखहेतुत्वं। एवं दुःखमपि।

इससे ज्ञात होता है कि इन्द्रियजनित सुख, वासनामात्र ही है; वह आत्मा का स्वाभाविक-अनाकुल स्वभाववाला नहीं है। अन्यथा जो पदार्थ, संसार में सुखजनक माने जाते हैं, वे दुःख के कारण कैसे बने? इस प्रकार वह (इन्द्रियसुख) भी दुःख ही है ॥६॥

भावार्थ *:- अज्ञानी जीवों को जो सुख-दुःख होता है, वह इन्द्रियजनित है — वासनामात्र है।*

'देहादि पदार्थ मुझे उपकारक हैं; अतः ठीक हैं और वे मुझे अपकारक हैं — ऐसा किसी समय मानता है; अतः अनिष्ट हैं' — ऐसी विभ्रमरूप कल्पना से उत्पन्न हुआ संस्कार, वासना है।

अज्ञानी जीव, ऐसी वासना केकारण, भोगों के निमित्त से उत्पन्न हुए इन्द्रियजनित सुख में भ्रम से, वास्तविक (सच्चे) सुख की कल्पना करता है।

ये भोग, रोग के समान हैं। वे दुःख के समय रोग की तरह आकुलता-उद्वेगता के निमित्त होते हैं। किसी कारण से मन दुःखी हो, अर्थात् चित्तक्षोभ हो तो सुन्दर भोग भी उद्वेगकारक लगते हैं। भूख-प्यास से पीड़ित मनुष्य को सुन्दर महल, चन्दन, चन्द्रकिरण, युवतियाँ इत्यादि सुन्दर पदार्थ भी दुःखकारक लगते हैं।

इन्द्रियजन्य सुख, वासनामात्र अथवा कल्पनाजनित है; वह आत्मा का स्वाभाविक-अनाकुलतारूप सुख नहीं है, किन्तु वस्तुतः दुःख ही है; इस कारण उसमें सच्चे सुख की कल्पना करना व्यर्थ है।

यदि इन्द्रियजन्य सुख, वासनामात्र-विभ्रमजन्य न हो तो इस संसार में जो पदार्थ सुखदायक माना जाता है, वह ही दुःखदायक क्यों माना जाए? अतः अज्ञानी जीवों का सुख-दुःख केवल वासनामात्र है, दोनों दुःख ही हैं।

एते सुख-दुःखे खलु वासनामात्रे कथं न लक्ष्येते इति-अत्राह पुनः शिष्यः खल्विति वाक्यालंकारे निश्चये वा। कथं? केन प्रकारेण न लक्ष्येते न संवेद्येते लोकैरिति शेषः। शेषं स्पष्टम्।

अत्राचार्यः प्रबोधयति :-

मोहेन संवृतं ज्ञानं स्वभावं लभते न हि।
मत्तः पुमान्पदार्थानां यथा मदनकोद्रवैः॥ ७॥

नहि-नैव लभते-परिछिन्नति धातूनामनेकार्थत्वात्लभे-र्ज्ञानेऽपि वृत्तिस्तथा वल्लोको वक्तिमयाऽस्य चित्तं लब्धमिति। किं तत् कर्तृ? ज्ञानं धर्म्म-धर्म्मिणोः कथंचित्तादात्म्यादर्थ-

---

यहाँ शिष्य पुनः कहता है — 'यदि वह सुख-दुःख वस्तुतः *('खलु' शब्द वाक्यालङ्कार या निश्चयनय के अर्थ में है)* वासनामात्र हो तो (लोगों को) वह (वासनामात्र है, ऐसा) क्यों ज्ञात नहीं होता? अर्थात्, लोगों को वह संवेदन में क्यों नहीं आता? शेष स्पष्ट है।'

यहाँ आचार्य समझाते हैं :—

मोहकर्म के उदय से, नहीं स्वरूप का ज्ञान।
ज्यों मद से उन्मत्त नर, खो देता सब भान॥ ७॥

अन्वयार्थ :- **(यथा)** जैसे **(मदनकोद्रवैः)** मद उत्पन्न करनेवाले कोदवों से (कोदवों के निमित्त से) **(मत्तः पुमान्)** उन्मत्त (पागल) बना हुआ मनुष्य, **(पदार्थानां)** पदार्थों का **(स्वभावं)** यथार्थस्वरूप **(न लभते)** नहीं जानता, **(तथा मय)** तथा **(मोहेन)** मोह से **(संवृत्तं)** आच्छादित हुआ **(ज्ञानं)** ज्ञान, **(स्वभावं)** वास्तविकस्वरूप को **(न हि लभते)** नहीं जानता।

टीका :- न हि, अर्थात् वस्तुतः प्राप्त करता-जानता नहीं। *(धातुओं के अनेक अर्थ होने से, तम शब्द रखने के अर्थ में तथा ज्ञान के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। (जैसे, लोक में कहते हैं — मैंने उसका मन रखा जाना)* वह कौन (जानता नहीं)? ज्ञान (कर्ता) अर्थात्, धर्म और धर्मी के कथञ्चित् तादात्म्यपने के कारण, अर्थ को ग्रहण करने के (जानने के) व्यापार में परिणत आत्मा।

ग्रहणव्यापारपरिणत आत्मा। कं? स्वभावं, स्वोऽसाधारणो-अन्योऽन्य-व्यतिकरे सत्यपि व्यक्त्यंतरेभ्यो विवक्षितार्थस्य व्यावृत्तिप्रत्यय -हेतुर्भावो धर्म्मः स्वभावस्तं। केषां? पदार्थानां। सुखदुःख-शरीरादीनां। किंविशिष्टं सत् ज्ञानं? संवृतं प्रच्छादितं वस्तु-याथात्म्यप्रकाशने अभिभूतसामर्थ्यं। केन? मोहेन मोहनीय-कर्म्मणो विपाकेन।

तथाचोक्तम् (लघीयस्त्रये) -

मलविद्धमणेर्व्यक्तिर्यथानैकप्रकारतः।
कर्म्मबिद्धात्मविज्ञप्तिस्तथानैकप्रकारतः॥

किसे (नहीं जानता)? स्वभाव को। स्व, अर्थात् असाधारण; परस्पर भिन्न होने पर भी (इकट्ठे मिले पदार्थों में से) विवक्षित (मुख्य) पदार्थ को अन्य पदार्थों से व्यावर्त्त (भिन्न) बतलाने में कारणभूत भाव, वह धर्म-स्वभाव, उसे।

(दो अथवा दो से अधिक मिले हुए पदार्थों में से किसी मुख्य पदार्थ को अन्य पदार्थों से भिन्न बतलानेवाले असाधारणभाव (धर्म) को, उस पदार्थ का स्वभाव कहते हैं।)

किसके (स्वभाव को)? सुख-दुःख, शरीरादि पदार्थों के (स्वभाव को)। वह ज्ञान कैसा है? ढँका हुआ-आच्छादित हुआ, अर्थात् वस्तु के यथार्थस्वरूप के प्रकाशन में जिसका सामर्थ्य अभिभूत हुआ है — (पराभव को प्राप्त हुआ है)। किससे (अभिभूत हुआ है)? मोह से-मोहनीयकर्म के विपाक से (उदय से), (अर्थात्, मोहनीयकर्म के उदय में जुड़ने से वह ज्ञान आच्छादित हुआ है)।

तथा लघीयस्त्रय में कहा है कि — '**मलविद्ध....**'

जिस प्रकार मलवाला मणि का प्रकाश एक प्रकार का नहीं होकर, (अनेक प्रकार का होता है।) उसी प्रकार कर्म संबद्ध आत्मा की विज्ञप्ति एक प्रकार नहीं होकर, अनेकरूप होती है। (कर्ममल से आवृत्त ज्ञान, खण्ड-खण्डरूप होकर अनेकरूप होता है)।

शिष्य ने प्रश्न किया — अमूर्त आत्मा का, मूर्त कर्म द्वारा अभिभव (पराभव) होना किस प्रकार योग्य है?

उसके उत्तर स्वरूप आचार्य कहते हैं- '**मत्त इत्यादि**'

नन्वमूर्तस्यात्मनः कथं मूर्तेन कर्म्मणाभिभवो युक्तः ? इत्यत्राह-मत्त इत्यादि। यथा नैव लभते। कोऽसौ ? पुमान् व्यवहारी पुरुषः। कं ? स्वभावं केषां ? पदार्थानां घटपटादीनां। किं विशिष्टः सन् ? मत्तः जनितमदः। कैः ? मदनकोद्रवैः।

'स्वभावमनासादयन् विसदृशान्यवगच्छतीति' - पुनराचार्य एव प्राहविराधक इत्यादि यावत् स्वभावं शरीरादीनां स्वरूपं अनासादयन् अलभमानः पुरुषः विसदृशानि शरीरादीनि अन्यथाभूतानि अवगच्छति प्रतिपद्यत इत्यर्थः।

अमुमेवार्थं स्फुटयति :-

वपुर्गृहं धनं दाराः पुत्रा मित्राणि शत्रवः।
सर्वथान्यस्वभावानि मूढः स्वानि प्रपद्यते॥ ८॥

जैसे जानता ही नहीं। वह कौन ? पुरुष, अर्थात् व्यवहारी पुरुष। किसे (नहीं जानता) ? घट-पटादि पदार्थों के स्वभाव को। कैसे होता हुआ (वह पुरुष) ? उन्मत्त (पागल) होता हुआ, नशा में आया हुआ। किस द्वारा ? मद उत्पन्न करनेवाले कौदों द्वारा (कौदों के निमित्त से) ॥७॥

भावार्थ :- *जैसे-मनुष्य, मादक कौदों के निमित्त से अपनी योग्यता से उन्मत्त (पागल) बन जाता है, उसका ज्ञान भी मूर्च्छित हो जाता है, उसे हेय-उपादेय का कुछ भी विवेक नहीं रहता; वैसे ही यह व्यवहारी (अज्ञानी), आत्मस्वरूप से च्युत होता है, उसे हेय-उपादेय का कुछ विवेक नहीं रहता। वह अपने से सर्वथा भिन्न धनादि सम्पदा में तथा देह, स्त्री, पुत्र, मित्रादिक में आत्मकल्पना करता है; उन्हें अपना मानता है और अत्यन्त दुःखकर सांसारिक भोगों के भाव को भी सुखकर मानता है। उसका ज्ञान, मोह से पराभव को प्राप्त होने से, सुख-दुःख, शरीरादि पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को नहीं जानता, अर्थात् पदार्थों के विपरीत स्वरूप को जानता है।*

फिर से आचार्य ही कहते हैं — **'विराधक इत्यादि यावत'** — (दशवें श्लोक तक) अपने स्वभाव को प्राप्त नहीं करनेवाला (अर्थात्, शरीरादि का स्वरूप नहीं जाननेवाला पुरुष, शरीरादि को अन्यथा / अन्य प्रकार मानता है) — ऐसा अर्थ है।

इसी अर्थ की (आचार्य) स्पष्टता करते हैं :—

प्रपद्यते। कोऽसौ ? मूढः स्वपरविवेकज्ञानहीनः पुमान्। कानि, वपुर्गृहादीनि वस्तूनि। किं विशिष्टानि? स्वानि स्वश्चात्मा स्वानि चात्मीयानि स्वानि एकशेषाश्रयणादेकस्य स्वशब्दस्य लोपः। अयमर्थः दृढतममोहाविष्टो देहादिकमात्मानं प्रपद्यते-आत्मत्वेनाभ्युपगच्छति। दृढतरमोहाविष्टश्च आत्मीयत्वेन। किंविशिष्टानि संति स्वानि प्रपद्यत इत्याह-सर्वथान्य-स्वभावानि-सर्वेण द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव-लक्षणेन प्रकारेण स्वस्वभावा-दन्यो भिन्नः स्वभावो येषां तानि। किं किं इत्याह-वपुः शरीरं तावदचेतनत्वादिस्वभावं प्रसिद्धमस्ति। एवं गृहं धनं दाराः भार्याः पुत्राः आत्मजाः मित्राणि सुहृदः शत्रवः अमित्राः॥८॥

तन धन घर तिय मित्र अरि, पुत्र आदि सब अन्य।
स्व से अन्य हैं सर्वथा, माने मूढ़ अनन्य॥ ८॥

अन्वयार्थ :- **(वपुः)** शरीर **(गृहं)** घर, **(धनं)** धन, **(दाराः)** स्त्री, **(पुत्राः)** पुत्र **(मित्राणि)** मित्र, **(शत्रवः)** शत्रु **(सर्वथा अन्य स्वभावानि)** सर्वथा (चैतन्यस्वभाव से) भिन्न स्वभाववाले हैं, [किन्तु] तो भी **(मूढः)** अज्ञानी जीव **(तानि)** उनको **(स्वानि)** अपने **(प्रपद्यते)** मानता है।

टीका :- मानता है (समझता है)। वह कौन? मूढ़, अर्थात् स्व-पर के विवेक-ज्ञान से रहित पुरुष। किसे (मानता है)? शरीर, गृह, इत्यादि वस्तुओं को; किस प्रकार की (मानता है)? अपनी (मानता है)। स्व, अर्थात निज आत्मा; स्वानि, अर्थात् आत्मीय स्व, [एक शेष समास के कारण एक 'स्व' शब्द का लोप हुआ है।] इसका अर्थ यह है कि-दृढ़तम् मोह से आविष्ट (मोहादिभूत) प्राणी, देहादिक को आत्मा मानता है, अर्थात् उन्हें आत्मस्वरूप समझता है और दृढ़तर मोह से आविष्ट प्राणी (उन्हें) आत्मीय (अर्थात्, आत्मा के) मानता है।

(शिष्य) पूछता है — किस प्रकार की वस्तुओं को अपनी मानता है? सर्वथा (सर्व प्रकार से) अन्य (भिन्न) स्वभाववाली (वस्तुओं को) — अर्थात्, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप सर्व प्रकार से स्व-स्वभाव से अन्य, अर्थात् जिनका स्वभाव भिन्न है — ऐसी (वस्तुओं को)। फिर पूछता है — 'कौन-कौन-सी (वस्तुएँ)? प्रथम तो वपु, अर्थात् शरीर जो कि अचेतनत्वादि स्वभाववाला प्रसिद्ध है, उसे; तथा धन, घर, दारा, स्त्री (भार्या) पुत्र, मित्र और शत्रु आदि॥८॥

अत्र हितवर्गमुद्दिश्य दृष्टान्तः। अत्र एतेषु वपुरादिषु मध्ये हितवर्ग हितानामुपकारकाणां दारादीनां वर्गो गणस्तं उदिश्य विषयीकृत्य दृष्टान्तः उदाहरणं प्रदर्श्यते, अस्माभिरिति शेषः। तद्यथा :-

दिग्देशेभ्यः खगा एत्य संवसंति नगे नगे।
स्वस्वकार्यवशाद्यांति देशे दिक्षु प्रगे प्रगे॥ ९॥

भावार्थ *:- स्व-पर के भेदविज्ञान से रहित मूढ़ जीव, द्रव्य-क्षेत्र-काल -भावरूप से आत्मस्वभाव से सर्वथा भिन्न स्वभाववाले जो शरीर, धन, घर, स्त्री, पुत्र, मित्र आदि पदार्थ हैं, उन्हें स्व तथा आत्मीय-अपने मानता है।'*

असद्भूतव्यवहारनय से ये सब जीव के कहे जाते हैं, अर्थात् इन सबका संयोग जीव के है अवश्य, तथापि ये जीव से सर्वथा भिन्न हैं, यह दर्शाने के लिये प्रस्तुत मूल गाथा में तथा टीका में 'सर्वथा' शब्द का प्रयोग किया है।

इस प्रकार मूढ़ जीव, अपने आत्मस्वभाव से सर्वथा भिन्न स्वभाववाले पदार्थों में आत्मबुद्धि और आत्मीयबुद्धि करके दुःखी होता है।

समाधितन्त्र श्लोक ५६ में भी कहा है कि —

'अनात्मीयात्मभूतेषु ममाहमिति जाग्रति'

अज्ञानी जीव, अनात्मीयभूत, अर्थात् आत्मीय नहीं, ऐसे स्त्री-पुत्रादिक में 'ये मेरे हैं' और अनात्मभूत, अर्थात् आत्मभूत नहीं, ऐसे शरीरादि में, 'यह मैं हूँ' — ऐसा अध्यवसाय (विपरीतमान्यता) करता है।

यहाँ हितवर्ग को विषय करके दृष्टान्त है।

यहाँ, अर्थात् शरीरादि के मध्य जो हितकारक, अर्थात् उपकारक स्त्री आदि का समूह है, उसे लक्ष्य करके, अर्थात् विषय करके (वे कैसे हैं — यह समझाने के लिये) हम दृष्टान्त, अर्थात् उदाहरण देते हैं, जो इस प्रकार है :—

(मोही प्राणी जिन शरीरादि पदार्थों को उपकारक अथवा हितकारक मानता है, वे सब कैसे हैं, यह दृष्टान्त द्वारा आचार्य समझाते हैं।)

संवसंति मिलित्वा रात्रिं यावन्निवासं कुर्वन्ति के ते? खगाः पक्षिणः। क्व क्व? नगे नगे वृक्षे वृक्षे। किं कृत्वा? एत्य आगत्य। केभ्यो? दिग्देशेभ्यः-दिशः पूर्वादयो दिशं। देशस्तस्थैकदेशो (शा) अंगवंगादयस्तेभ्योऽवधिकृतेभ्यः तथा यांति गच्छन्ति। के ते? खगाः। कासु? दिक्षु दिग्देशेषु इति प्राप्तेर्विपर्ययनिर्देशो गमननियमनिवृत्त्यर्थ तेन यो यस्या दिशिगच्छति यश्च यस्माद्देशा-दायातः स तस्मिन्नेवदेशे गच्छतीति नास्ति नियमः किं तर्हि यत्र क्वापि यथेच्छं गच्छंतीत्यर्थः। कस्मात् स्वस्वकार्यवशात् निज-निजकरणीयपारतंत्र्यात्। कदा कदा? प्रगे प्रगे प्रातः प्रातः। एवं संसारिणो जीवा अपि नरकादिगतिस्थानेभ्य आगत्य कुले स्वायुः कालं यावत् संभूय तिष्ठंति तथा निजनिज (कर्म) पारतंत्र्यात्

चहुँदिशि से आकर विहग, रैन बसे तरु-डाल।
उड़े प्रातः निज कार्यवश, यही जगतजन चाल॥ ९॥

अन्वयार्थ :- **(खगाः)** पक्षीगण **(दिग्देशेभ्यः)** (पूर्वादि) दिशाओं से और (अङ्ग-बङ्ग आदि) देशों से **(एत्य)** आकर **(नगे-नगे)** वृक्षों पर **(संवसन्ति)** निवास करते हैं और **(प्रगे-प्रगे)** प्रातःकाल होने पर **(स्वस्वकार्यवशात्)** अपने-अपने कार्यवशात् **(देशे दिक्षु)** (अलग-अलग) देशों और दिशाओं में **(यान्ति)** चले जाते हैं।

टीका :- संवास करते हैं, अर्थात् एकत्रित होकर रात्रि तक निवास करते हैं। वे कौन? पक्षी। कहाँ-कहाँ (निवास करते हैं)? वृक्षों के ऊपर। क्या करके? आकर। कहाँ से (आकर)? दिशाओं और देशों से; दिशाएँ, अर्थात् पूर्वादि दश दिशाएँ; देश, अर्थात् उसका एक भाग-अङ्ग, बङ्ग आदि, उन अवधिकृत मर्यादित। देशों से (आते हैं) तथा जाते हैं। वे कौन? पक्षीगण। कहाँ (जाते हैं)? दिशाओं में, अर्थात् दिशाओं और देशों में। प्राप्त किये स्थान से उनके जाने का नियम उल्टा है — ऐसा निर्देश है। तात्पर्य यह कि जाने के नियम का अभाव है — ऐसा अर्थ है। जिन-जिन दिशाओं से आये, उन-उन ही दिशाओं में जायें और जिन-जिन देशों से आये, उन-उन ही देशों में जाये — ऐसा नियम नहीं है। तो कैसा है? वे जहाँ-तहाँ इच्छानुसार जाते हैं। किससे (जाते हैं)? अपने-अपने कार्य के वश, अर्थात् करनेयोग्य अपने-अपने कार्य की पराधीनतावश। कब-कब (जाते हैं)? सबेरे-सबेरे।

देवगत्यादिस्थानेष्वनियमेन स्वायुः कालान्ते गच्छन्ति इति प्रतीहि। कथं भद्र! तव दारादिषु हितबुद्ध्या गृहीतेषु सर्वथान्यस्वभावेषु आत्मीयभावः? यदि खलु एते त्वदात्मका स्युः तदा त्वयि तदवस्थयैव कथमवस्थान्तरं गच्छेयुः। यदि चैते तावकाः स्युस्तर्हि कथं? तवप्रयोगमंतरेणैव यत्र क्वापि प्रयांतीति मोहग्रहावेशमपसार्य यथावत्पश्येति दार्ष्टान्ते दर्शनीयं॥९॥

इस प्रकार संसारी जीव भी नरकादि गति-स्थानों से आकर, कुल में (कुटुम्ब में) अपने आयुकाल तक एकत्रित होकर रहते हैं और अपने आयुकाल के अन्त में अपनी-अपनी पराधीनता के कारण, अनियम से (नियम बिना) देवगति आदि स्थानों में चले जाते हैं — ऐसी प्रतीति (विश्वास) कर।

तो हे भद्र! हितबुद्धिरूप ग्रहण किये हुए (अर्थात्, ये हितकारक हैं — ऐसा समझकर अपने माने हुए) सर्वथा भिन्न स्वभाववाले जो स्त्री आदिक हैं, उसमें तेरा आत्मा तथा आत्मीयभाव कैसा? यदि वस्तुतः वे (शरीरादि) तुझ आत्मस्वरूप हों, तो तू उस अवस्था में ही होने पर भी, वे अन्य अवस्था को कैसे प्राप्त हो जाते हैं? यदि वे तेरे हों तो तेरे प्रयोग बिना वे जहाँ-तहाँ क्यों चले जाते हैं? अतः मोहजनित आवेश का परित्याग कर जैसा (वस्तुस्वरूप) है, वैसा देख — ऐसा दृष्टान्त में समझने योग्य है॥९॥

भावार्थ *:- जिस प्रकार रात्रि समय में पक्षीगण भिन्न-भिन्न दिशा और देशों से आकर, वृक्षों पर एक साथ निवास करते हैं और प्रातःकाल अपने-अपने कार्य के लिये इच्छानुसार किसी भी देश व दिशा में उड़ जाते हैं; उसी प्रकार संसारी जीव, नरकगति आदिरूप स्थानों से आकर, एक परिवार में जन्म लेते हैं और वहाँ परिजनों के साथ अपने आयुकाल तक रहते हैं, पश्चात् अपनी आयु पूर्ण होने पर, अपनी-अपनी योग्यतानुसार देवगति आदि स्थानों में गमन कर जाते हैं।*

जैसे, पक्षीगण जिन दिशाओं और देशों में से आते हैं, उन्हीं दिशा और देशों में जाने का कोई नियम नहीं है; वैसे ही संसारी जीव भी आयुपूर्ण होने पर, जिस गति में से आये थे, उसी गति-स्थानों में पुनः जावें — ऐसा कोई नियम नहीं है; अपनी-अपनी योग्यतानुसार नयी गति में जाते हैं।

'अहितवर्गेऽपि दृष्टान्तः प्रदर्श्यते' अस्माभिरिति योज्यम् -

विराधकः कथं हंत्रे जनाय परिकुप्यति।
त्र्यगुलं पातयन्पद्भ्यां स्वयं दडेन पात्यते॥ १०॥

कथमित्यरुचौ, न श्रद्दधे। कथं परिकुप्यति समंतात् क्रुध्यति। कोऽसौ? विराधकः

आचार्य, शिष्य को बोधरूप कहते हैं, 'हे भद्र! शरीरादि पदार्थ तुझसे सर्वथा भिन्न स्वभाववाले हैं। यदि वे तेरे हों तो दोनों भिन्न होकर चले क्यों जाते हैं? यदि वे तुझ आत्मस्वरूप हों तो आत्मा तो अपने त्रिकाली स्वरूप में वह का वही रहता है और उसके साथ के शरीरादि संयोगी पदार्थ तो वह के वह नहीं रहते हैं। यदि वे आत्मस्वरूप हों तो आत्मा के साथ ही रहना चाहिए, किन्तु यह तो देखा नहीं जाता; इसलिए उन्हें आत्मस्वरूप मानना, वह भ्रम ही है, अर्थात् शरीरादि परपदार्थों में हितबुद्धि से आत्मभाव या आत्मीयभाव करना, अज्ञानता है। अतः वस्तुस्वरूप के परिज्ञानपूर्वक इस आत्मीयभाव का त्याग करना ही श्रेयस्कर है।' यहाँ भी 'सर्वथा' सम्बन्धी इससे पूर्व की गाथानुसार समझना चाहिए।

अहितवर्ग के सम्बन्ध में भी मैं दृष्टान्त दूँगा — ऐसा जोड़ना। (अर्थात्, शत्रुओं के प्रति 'यह हमारा शत्रु है-अहितकर्ता है' — ऐसा भाव, अज्ञानजनित है, यह दृष्टान्त द्वारा आचार्य बतलाते हैं) :—

त्रास दिया तब त्रस्त अब, क्यों हन्ता पर कोप?।
अपराधी भी स्वयं झुके, हो जब दण्ड-प्रयोग॥ १०॥

अन्वयार्थ :- **(विराधकः)** विराधक (जिसने पहले अन्य को हैरान किया था-दुःख दिया था — ऐसा पुरुष), **(हंत्रे जनाय)** (वर्तमान में) अपने को मारनेवाले मनुष्य के प्रति **(कथं परिकुप्यति)** क्यों क्रोध करता है? (अरे देखो!) **(त्र्यंगुलं)** त्र्यंगुल को **(पद्भ्यां)** पैरों से **(पातयन्)** नीचे गिरानेवाला (मनुष्य) **(स्वयं)** स्वयं **(दण्डेन)** दण्ड द्वारा (त्र्यंगुल के दण्ड द्वारा) **(पात्यते)** नीचे गिरता है।

टीका :- (कथम् शब्द अरुचि के अर्थ में है) मुझे श्रद्धा में जँचती नहीं (मुझे

अपकारकर्त्ता जनः। कस्मै ? हंत्रे जनाय प्रत्यपकारकाय लोकाय।

'सुखं वा यदि वा दुःखं येन यच्च कृतं भुवि।
अवाप्नोति स तत्तस्मादेष मार्गः सुनिश्चितः॥'

इत्यभिधानात् अन्याय्यमेतदिति भावः। अत्र दृष्टांतमाचष्टे-त्र्यंगुल इत्यादिः-पात्यते भूमौ क्षिप्यते। कोऽसौ ? सः कश्चिदसमीक्ष्यकारी जनः केन, दंडेन हस्तधार्यकाष्ठेन। कथं पात्यते ? स्वयं-प्रेरणमंतरेणैव पात्यते। किं कुर्वन् ? पातयन्-भूमिं प्रति नामयन्। किं तत् ? त्र्यंगुलं अंगुलित्रयाकारं कच्चराद्याकर्षणावयवं। काभ्यां ? पद्भ्यां पादाभ्यां, ततोऽहिते प्रीतिरहिते चाऽप्रीतिः स्वहितैषिणा प्रेक्षावता न करणीया।

समझ में नहीं आता) कि क्यों परिकोप करता है, अर्थात् क्यों सर्व प्रकार से कोपायमान होता है ? वह कौन ? विराधक, अर्थात् अपकार करनेवाला मनुष्य। किस पर (कोप करता है) ? हननेवाले मनुष्य के ऊपर, अर्थात् सामने अपकार करनेवाले लोक पर।

'संसार में यह सुनिश्चित् रीति है कि जो जिसको सुख या दुःख देता है, वह उसकी तरफ से उन (सुख-दुःख को) पाता है।' (अतः सामने अपकार करनेवाले पुरुष के प्रति क्रोध करना) अन्याययुक्त है (अयोग्य है) — ऐसा इस कथन का भाव है।

यहाँ इस सम्बन्ध में दृष्टान्त कहते हैं — **त्र्यंगुलमित्यादि।**

गिराया जाता है, अर्थात् (किसी के द्वारा) भूमि पर पटका जाता है। वह कौन ? कोई बिना विचारे काम करनेवाला मनुष्य। किसके द्वारा (गिराया जाता है) दण्ड द्वारा, अर्थात् हाथ में रखे हुए काष्ट (लकड़ी) द्वारा। किस प्रकार ? स्वयं गिराया जाता है। (किसी की) प्रेरणा बिना ही। क्या करते हुए ? (नीचे) गिराते, अर्थात् भूमि की ओर झुकाते हुए। क्या ? (झुकाते हुए) ? त्र्यंगुल को, अर्थात् तीन अंगुलियों के आकारवाले कूड़ा-कचरादि को खींचनेवाले यन्त्र को। किसके द्वारा ? दो पैरों के द्वारा।

इसलिए अहित करनेवाले, अर्थात् प्रीतिरहित व्यक्ति के प्रति, अपना हित चाहनेवाले बुद्धिमान (पुरुष को) अप्रीति, अर्थात् द्वेष नहीं करना चाहिए॥१०॥

भावार्थ :- *मनुष्य, मिट्टी खोदने अथवा कचरा खींचने के लिए त्र्यंगुल को*

हिताहितयोः रागद्वेषौ कुर्वन्-अत्र विनेयः पृच्छति-हिताहितयो राग-द्वेषौ कुर्वन किं कुरुते? दारादिषु रागं शत्रुषु च द्वेषं कुर्वाणः किं कुरुते आत्मने, हितं कार्य कुरुते येन तावत् कार्यतयोपदिश्यते इत्यर्थः। आचार्यः समाधत्ते :-

राग-द्वेषद्वयी-दीर्घनेत्राऽऽकर्षण-कर्मणा।
अज्ञानात्सुचिरं जीवः संसाराब्धौ भ्रमत्यसौ॥ ११॥

भ्रमति संसरति। कोः? असौ जीवश्चेतनः। क्व ? संसारा-ब्धौ-संसारः

नीचे पटकता है, तब उसे स्वयं को भी झुकना पड़ता है, कारण कि उसका दण्ड (हत्था) छोटा होता है। वह त्र्यंगुल को नीचे पटकता है, तो त्र्यंगुल का दण्ड भी उसको नीचे पटकता है; इसी प्रकार यदि तुम किसी को दुःखी करो और दूसरा कोई तुमको दुःखी करे और उस पर क्रोधित होओ, यह कितना अन्याय है? कारण कि 'संसार में यह बात सुनिश्चित है कि जो कोई मनुष्य, दूसरे को सुख या दुःख देता है, उसको अन्य के द्वारा सुख या दुःख प्राप्त होता ही है।' इसलिए अपना हित चाहनेवाले बुद्धिमान पुरुष को, अहित करनेवाले व्यक्ति के प्रति अप्रीति अथवा द्वेष करना योग्य नहीं है।

यहाँ शिष्य पूछता है कि हित और अहित करनेवालों के प्रति राग-द्वेष करनेवाला क्या करता है? स्त्री आदि के प्रति राग और शत्रुओं के प्रति द्वेष करनेवाला पुरुष, अपना क्या अहित कार्य करता है, जिससे राग-द्वेष करनेयोग्य नहीं — ऐसा उसे उपदेश दिया जाता है?

यहाँ आचार्य समाधान करते हैं :—

राग-द्वेष रस्सी बँधा, भव-सर घूमे आप।
आत्म-भ्रान्तिवश आप ही, सहे महा सन्ताप॥ ११॥

अन्वयार्थ :- **(असौ जीवः)** यह जीव **(अज्ञानात्)** अज्ञान से **(राग-द्वेषद्वयी दीर्घनेत्राकर्षण कर्मणा)** राग-द्वेषरूपी लम्बी डोरियों की (रस्सियों की) खींचतान के कार्य से **(संसाराब्धौ)** संसार समुद्र में **(सुचिरं)** बहुत लम्बे काल तक **(भ्रमति)** घूमता रहता है-भ्रमता रहता है।

द्रव्यादिपरिवर्तनरूपो भवोऽब्धिः समुद्रइव दुःख-हेतुत्वात् दुस्तरत्वाच्च तस्मिन्। कस्मात्? अज्ञानात् देहादिष्वात्म-विभ्रमात्। कियत्कालं? सुचिरं अतिदीर्घकालं। केन? रागद्वेषद्वयी दीर्घनेत्राऽऽकर्षणकर्मणा-रागः इष्टे वस्तुनि प्रीतिः द्वेषश्चानिष्टे-ऽप्रीतिस्तयोर्द्वयी-रागद्वेषयोः शक्तिव्यक्तिरूपतया युगपत् प्रवृत्ति ज्ञापनार्थं द्वयी ग्रहणं, शेषदोषाणां च तद्द्वयप्रतिबद्धत्वबोधनार्थं।

तथा चोक्तम् (ज्ञानार्णवे)-

'यत्र रागः पदं धत्ते द्वेषस्तत्रेति निश्चयः।
उभावेतौ समालम्ब्य विक्रमत्यधिकं मनः ॥२३॥'

टीका :- भ्रमण करता है, अर्थात् संसरण करता है। वह कौन? वह जीव -चेतन। कहाँ (भ्रमण करता है)? संसार-समुद्र में। संसार, अर्थात् द्रव्यपरिर्वतनादिरूप भव, जो दुःख का कारण और दुस्तर होने से समुद्र जैसा है उसमें; किस कारण से भ्रमण करता है? अज्ञान के कारण, अर्थात् देहादिक में आत्मविभ्रम के कारण। कितने काल तक (भ्रमण करता है)? सुचिर, अर्थात् बहुत लम्बे काल तक।

किससे? **रागैत्यादि** — राग इत्यादि से।

राग, अर्थात् इष्ट वस्तु में प्रीति और द्वेष, अर्थात् अनिष्ट वस्तु में अप्रीति, उन दोनों का युगल। राग-द्वेष की प्रवृति शक्तिरूप तथा व्यक्तिरूप से हमेशा एक साथ होती है-यह बतलाने के लिये तथा अन्य दोष भी उन (दोनों के) युगल में गर्भित है (अर्थात्, शामिल हैं; वे एक साथ सम्बन्ध रखते हैं) यह बतलाने के लिये (आचार्यदेव ने) उन दोनों का (राग-द्वेष का एक साथ)ग्रहण किया है।

तथा 'ज्ञानार्णव' में कहा है कि —

'जहाँ राग अपना पैर जमाता है (रखता है), वहाँ द्वेष अवश्य होता है; उन दोनों के (राग-द्वेष के)अवलम्बन से मन अधिक विकारी बनता है (क्षोभ पाता है-चञ्चल बनता है।)'

तथा जहाँ 'मेरापना' का भाव आता है, वहाँ परसंज्ञा (पर तरफ का भाव) आता है। स्व-पर के विभाग के कारण राग-द्वेष होता है। (अर्थात्, जहाँ 'यह मेरा

अपि च-

आत्मनि सति परसंज्ञा, स्व-पर-विभागात् परिग्रहद्वेषौ।
अनयोः संप्रतिबद्धाः सर्वे दोषाश्च जायंते॥

सा दीर्घनेत्रं आयतमंथाकर्षणपाश इव भ्रमणहेतुत्वात्तस्या-कर्षणकर्मजीवस्य रागादिरूपतया परिणमनं नेत्रस्याकर्षणत्वाभि -मुखाऽऽनयनं तेन। अत्रोपमानभूतो मंथदंड आक्षेप्यस्तेन यथा-नेत्राकर्षणव्यापारे मंथाचलः समुद्रे सुचिरं भ्रांतो लोके प्रसिद्ध-स्तथा स्वपरविवेकानवबोधात्। यदुद्भूतेन रागादिपरिणामेन कारणेकार्योपचारात्तज्जनितकर्मबन्धेन संसारस्यो जीवो अनादिकालं संसारे भ्रांतो भ्रमति भ्रमिष्यति इति। भ्रमतीति इति ''अत्र तिष्ठंते पर्वता'' इत्यादिवत् नित्यप्रवृत्ते लटो विधानात्।

उक्तं च - (पंचत्थिपाहुडे) -

है' और 'यह अन्य का है' — ऐसा स्व-पर का विभाग-भेद है, वहाँ स्व में रागरूप और पर में द्वेषरूप भाव होता है।) इन दोनों दोषों के साथ सम्बन्ध रखनेवाले (अन्य) सर्व दोष उत्पन्न होते हैं। (अर्थात्, अन्य सर्व दोषों का मूल, राग-द्वेष है।)

जैसे, मंथनदण्ड के भ्रमण का कारण, उसे खींचने में पाशरूप डोरी के आकर्षण की (खींचतान) की क्रिया है; वैसे ही जीव के (संसार में) भ्रमण का कारण, उसका रागादिरूप परिणमना वह है। डोरी के आकर्षण (खिंचाव) से अभिमुख लाया हुआ उपमानभूत (जिसके साथ जीव की समानता है, ऐसा) मंथन दण्ड भ्रमनेयोग्य है।

लोक में यह बात प्रसिद्ध है कि डोरियों की खींचतान की क्रिया से (आकर्षण की क्रिया से) जैसे मंथराचल पर्वत बहुत लम्बे काल तक घूमता रहा; उसी प्रकार स्व-पर के विवेक ज्ञान के अभाव से उत्पन्न हुए रागादि परिणामों से, अर्थात् (कारण में) रागादिक में (कार्य का) द्रव्यकर्म का उपचार करने से-उसके निमित्त से उत्पन्न हुए कर्मबन्ध से, संसारी जीव अनादि काल से संसार में भ्रमता रहा है, भ्रमता है और भ्रमेगा।

तथा पञ्चास्तिकाय में कहा है कि —

जो वस्तुत: संसार स्थित जीव है, उसके परिणाम होते हैं (अर्थात्, उसे राग-

'जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो।
परिणामादो कम्मं कम्मादो हवदि गदि-सु-गदी॥ १२८॥
गदिमधिगदस्य देहो देहादो इंदियाणि जायंति।
तेहिं दु विसयग्गहणं तत्तो रागो व दोसो वा॥ १२९॥
जायदि जीवस्सेवं भावो संसारचक्कबालम्मि।
इदि जिणवरेहिं भणियं अणाइणिहणो सणिहणो वा॥ १३०॥'

द्वेषरूप स्निग्ध परिणाम होते हैं), परिणामों से कर्म और कर्म से गतियों में गमन होता है। *(१२८)*

गति प्राप्त (जीव) के देह होती है, देह से इन्द्रियाँ होती है, इन्द्रियों से विषय -ग्रहण और विषय-ग्रहण से राग अथवा द्वेष होते हैं। *(१२९)*

इस प्रकार के भाव संसारचक्र में जीव के अनादि-अनन्त अनादि-शान्त हुआ करते हैं — ऐसा जिनवरों ने कहा है। *(१३०)*

(ये स्निग्ध परिणाम, अभव्यजीवों को अनादि-अनन्त होते हैं और कितने ही भव्यजीवों को अनादि-शान्त होते हैं, अर्थात् उन परिणामों का अन्त भी आता है।) ॥११॥

भावार्थ :- *इस लोक में यह कथा प्रसिद्ध है कि देवों ने मंथराचल पर्वत को मंथन दण्ड बनाकर, दो रस्सियों से उसकी खींचतान करके समुद्र का मंथन किया; वैसे ही जीव, द्रव्य-क्षेत्र काल-भव-भाव पञ्च परावर्तनरूप-संसारसमुद्र में अज्ञानजनित राग-द्वेषरूप रस्सियों की आकर्षण-क्रिया से अनादि काल से घूमता रहा है।*

यद्यपि कोई भी वस्तु इष्ट या अनिष्ट नहीं है, तथापि जो वस्तु इष्ट लगती है, उसमें यह राग करता है और जो अनिष्ट लगती है, उसमें द्वेष करता है। देहादिक पदार्थों में आत्मभ्रान्ति ही राग-द्वेष का मूलकारण है।

राग-द्वेष, दोनों शक्ति-व्यक्ति अपेक्षा से एक साथ होते हैं। जहाँ एक के प्रति राग प्रगटपने (व्यक्तरूप से) होता है, वहाँ दूसरे के प्रति द्वेष भी शक्तिरूप से होता ही है। — इस प्रकार दोनों का परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध है।

'तस्मिन्नपि यदि सुखी स्यात् को दोष? इति'-अथ प्रतिपाद्यः पर्यनुयुङ्क्ते भगवन्! तस्मिन्नपि संसारेपि न केवलं मोक्षे इत्यपि शब्दार्थः। यदि चेत्जीवः सुखी सुखयुक्तो भवेत् तर्हि को दोषः? न कश्चित् दोषो? दोषः दुष्टत्वं, संसारस्य सर्वेषां सुखस्यैवाप्तुमिष्ट-त्वात्; येन संसारच्छेदाय सन्तो यतेरन् इति

अत्राऽह वत्स!

विपद्भवपदावर्ते पदिकेवातिवाह्यते।
यावत्तावद्भवंत्यन्याः प्रचुरा विपदः पुरः॥ १२॥

राग-द्वेष, अन्य अनेक दोषों का मूल है। इनसे मन अति विह्वल और चञ्चल बनता है।

तथा संसारचक्र का मूलकारण, मिथ्यात्व और राग-द्वेष ही है, कारण कि इनके निमित्त से कर्मबन्ध; कर्मबन्ध से गति प्राप्ति; गति से शरीर; शरीर से इन्द्रियाँ; इन्द्रियों से विषयग्रहण; और विषयग्रहण से राग-द्वेष; और राग-द्वेष से कर्मबन्ध होता है। — इस प्रकार संसारचक्र चलता ही रहता है।

अब, शिष्य पूछता है कि भगवन! यदि उसमें भी (संसार में भी) जीव सुखी रहता हो तो क्या दोष है? केवल मोक्ष में ही सुखी रहे-ऐसा क्यों? — ऐसा भी शब्दार्थ है। यदि जीव, संसार में भी सुखी हो तो क्या दोष? कोई दोष नहीं, कारण कि संसार के सर्व जीवों को सुख की प्राप्ति ही इष्ट है, तो फिर सन्तपुरुष संसार के अभाव के लिये प्रयत्न क्यों करते हैं? (तात्पर्य यह है कि यदि संसार में ही सुख की प्राप्ति होती हो, तो संसार में ऐसा क्या दोष है कि जिससे सन्तपुरुष उसके नाश के लिये प्रयत्न करते हैं।)

इस विषय में आचार्य कहते हैं :—

विपदा एक टले नहीं, बाट बहुत-सी जोय।
रहट बँधा घटकूप में, कभी न खाली होय॥ १२॥

अन्वयार्थ :- **(भवपदावर्ते)** संसाररूपी (पैर से चलाने में आते हुए) घटी यन्त्र में **(पदिका इव)** एक पटली समान **(विपत्)** एक विपत्ति **(यावत् अति**

वत्स! यावत् अतिबाह्यते अतिक्रम्यते; प्रेर्यते, काऽसौ ? विपत् सहजशरीरमानसाऽऽ-गंतुकानामापदां मध्ये या काऽप्येका विवक्षिता आपत्। जीवनेति शेषः। क्व ? भवपदाऽऽवर्ते भवः संसारः पदावर्तइव-पादचाल्यघटीयंत्रमिव भूयो भूयः परिवर्त-मानत्वात्। तस्मिन् क, इव ? पदिकाइव-पादाऽऽक्रांतदंडिका यथा तावद्भवंति काः ? अन्याः अपूर्वा प्रचुरा-बह्वयो विपदः आपदः परः अग्रे जीवस्य, पदिकेव, काछिकस्येति सामर्थ्या-दुर्व्या। अतो जानीहि दुःखैकनिबंधनविपत्तिनिरंतरत्वात् संसारस्य अवश्य- विनाशित्वम्॥१२॥

न सर्वे विपद्वन्तः स-संपदोपि दृश्यंत इति-पुनः शिष्य एवाह भगवन्! सर्वे समस्ता अपि

बाह्यते तावत्) दूर करे, उससे पहले तो (**अन्याः**) दूसरी (**प्रचुराः**) बहुत (**विपदः**) विपत्तियाँ (**पुरः भवन्ति**) सामने उपस्थित होती हैं।

टीका :- दूर करते हैं-अतिक्रमते हैं-प्रेरते हैं, उससे पूर्व; कौन वह ? विपत्ति (दुःख) — अर्थात्, सहज शारीरिक या मानसिक आ पड़ती आपदाओं में किसी एक विवक्षित मुख्य आपदा, ('जीव द्वारा', यह शब्द अध्याहार है) कहाँ? भव पदावर्त में-भव, अर्थात् संसार और पदावर्त, अर्थात् पैर से चलाने में आता हुआ घटीयन्त्र, कारण कि उसमें बारम्बार परिवर्तन होता रहता है। घटीयन्त्र जैसे संसार में। किसकी तरह ? पदाक्रान्त (पैर देकर चलाने में आती) पटली की तरह (दूर करे उसके पहले ही, अर्थात् एक पटली व्यतीत हो, उसके पूर्व ही दूसरी पटली) उपस्थित होती है। कौन ? (उपस्थित होती है।) अन्य, अर्थात् अपूर्व और प्रचुर, अर्थात् बहु-विपत्तियाँ, जीव के सामने, जैसे नदी में काछिक (नदी के ऊपर के प्राणी) के सामने पटलियाँ (उपस्थित होती हैं, वैसे।) — ऐसा सामर्थ्य से समझना।

इस कारण दुःख की कारणभूत अनेक विपत्तियाँ निरन्तर आतीं होने से, संसार अवश्य विनाश करने योग्य है — ऐसा तू जान॥१२॥

***भावार्थ** :- संसार, घटीयन्त्र जैसा है। जैसे, घटीयन्त्र को उसकी पटलियों पर पैर रखकर चलाया जाता है, पैर से एक पटली दूर करते ही तुरन्त ही एक के बाद एक पटली, यन्त्र चलानेवाले के सामने उपस्थित होती है; इसी तरह संसार में एक विपत्ति (आपदा) दूर करे कि तुरन्त ही अन्य अनेक विपत्तियाँ उसके सामने उपस्थित होती ही हैं।*

संसारिण: विपद्वन्त: विपत्तियुक्ता: न सन्ति ससम्पदोऽपि दृश्यन्ते सश्रीकाणामपि केषांचिद् दृश्यमानत्वात् इति अत्राऽह -

दुरर्ज्येनाऽसुरक्षेण नश्वरेण धनादिना।
स्वस्थंमन्यो जन: कोऽपि ज्वरवानिव सर्पिषा॥ १३॥

भवति। कोऽसौ? जन: जीव: लोक:। किंविशिष्ट:? कोऽपि-कश्चिदपि सर्व:। किंविशिष्टो भवति? स्वस्थंमन्यो स्वथमात्मानं मन्यमानो अहं सुखीति मन्यत इत्यर्थ:। केन

इसलिए संसार अवश्य नाश करनेयोग्य है। संसार के प्रति रुचि का त्याग होने पर, अर्थात् उसकी ओर उपेक्षावृत्ति होने पर, संसार का अभाव हो जाता है। पर-पदार्थों के प्रति ममत्वभाव, अहंभाव, कर्तृत्वभाव तथा राग-द्वेषादिरूप भाव — यह आन्तरिक संसार है-अज्ञानता से खड़ा किया संसार है। आत्मस्वभाव की सन्मुखता से उसका नाश होने पर, बाह्य संयोगरूप संसार का भी स्वयं अभाव हो जाता है।

पुन: शिष्य ही कहता है — भगवन्! सभी विपत्तिवाले नहीं होते; सम्पत्तिवाले (सुखी) भी देखने में आते हैं, अर्थात् सभी संसारी विपत्तिवाले (दु:खी) नहीं होते, क्योंकि कितने ही लक्ष्मीवाले (सुखी) लोग भी देखने में आते हैं?

उसके उत्तर में आचार्य कहते हैं :—

अर्जन रक्षण है कठिन, फिर भी सत्वर नाश।
रे! धनादि का सुख यथा, घृत से ज्वर ना नाश॥ १३॥

अन्वयार्थ :- जैसे, **(ज्वरवान्)** कोई ज्वरग्रस्त (बुखार से पीड़ित) मनुष्य, **(सर्पिषा)** घी से (अर्थात्,) घी पीकर या शरीर को लगाकर **(स्वस्थंमन्य: भवति)** अपने को स्वस्थ-निरोगी मानता है, **(इव)** इसी तरह **(क: अपि जन:)** कोई एक मनुष्य, **(दुरर्ज्येन)** मुश्किल से (कष्ट से) पैदा किये (कमाये), **(असुरक्ष्येण)** जिसकी अच्छी तरह सुरक्षा करना अशक्य है — ऐसे **(नश्वरेण)** नश्वर (नाशवान) **(धनादिना)** धन आदि से **(स्वस्थंमन्य: भवति)** अपने को सुखी मानता है।

टीका :- होता है। वह कौन? मनुष्य-लोक। कैसा (मनुष्य)? कोई एक विवेकहीन, (किन्तु) सब नहीं। कैसा होता है? अपने को स्वस्थ (निरोगी) मानता

कृत्वा? धनादिना द्रव्यकामिन्यादीष्टवस्तुजातेन। किंविशिष्टेन? दुरर्ज्येन-अपायबहुलत्वाद् दुर्ध्यानावेशाच्च दुःखेन महता कष्टेनाऽर्ज्यत इति दुरर्ज्येन-तथा असुरक्षेण दुस्त्राणेन यत्नतो रक्ष्यमाणस्याप्यपायस्यावश्यं भावित्वात्। तथा नश्वरेण अशाश्वतेन रक्ष्यमाणस्यापि विनाशसंभवात्। अत्र दृष्टांतमाह-ज्वरेत्यादि-इव शब्दो यथार्थे इव यथा कोऽपि मुग्धो ज्वरवान् अतिशयेन मतेर्विनाशात् सामज्वराऽऽर्तः सर्पिषा घृतेन पानाद्युपयुक्तेन, स्वस्थंमन्यो भवति-निरामयमात्मानं मन्यते। ततो बुद्धयस्व-दुरुपार्ज्य-दूरक्षण-भंगुर-द्रव्यादिना दुःखमेव स्यात्। उक्तं च -

**''अर्थस्योपार्ज्जने दुःखमर्जितस्य च रक्षणे।
आये दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थं दुःखभाजनम्॥''**

है; मैं सुखी हूँ — ऐसा मानता है-ऐसा अर्थ है। किसके द्वारा? धनादि से, अर्थात् द्रव्य-स्त्री आदि इष्ट-वस्तुओं के समुदाय द्वारा। कैसे (धनादि) द्वारा? दुःख से अर्जित, अर्थात् बहुत कष्टपने के कारण से तथा दुर्ध्यान के आवेश से — कष्ट से-महाक्लेश से उपार्जित (कमाये हुए) तथा यत्न से रक्षण करने पर भी अवश्यम्भावी नाश के कारण मुश्किल से रक्षित तथा नश्वर, अर्थात् रक्षा प्राप्त धन का भी विनाश सम्भावित होने से, अशाश्वत-ऐसे (धनादि द्वारा)।

इस विषय में दृष्टान्त देते हैं '**ज्वरेत्यादि**' —

(यहाँ 'इव' शब्द 'यथा' के अर्थ में है)

जैसे, कोई एक मूर्ख ज्वरपीड़ित मनुष्य, अर्थात् सामज्वरपीड़ित मनुष्य, बुद्धि के अतिशय बिगड़ने से, पानादिक में (पीने इत्यादिक में) उपयुक्त (उपयोग में लिये हुए) घी द्वारा अपने को स्वस्थ (निरोगी) मानता है, अर्थात् अपनी जात को रोगरहित मानता है; इसी प्रकार कठिनता से उपार्जित, कष्ट से रक्षित और क्षणभंगुर (क्षण में नष्ट पाता) — ऐसे द्रव्यादि द्वारा दुःख ही हो सकता है-ऐसा तू समझ। कहा है कि —

'धन के उपार्जन में दुःख; उपार्जित धन की रक्षा करने में दुःख; वह आवे तो भी दुःख और जावे तो भी दुःख; इसलिए दुःख के भाजनरूप (कारणरूप) इस धन को धिक्कार हो।'॥१३॥

एवं विधां संपदं कथं न त्यजतीति।-भूयोऽपि विनेयः पृच्छति एवं विधां अनेन दुरर्ज्यत्वादिप्रकारेण लोकद्वयोऽपि दुःखदां सम्पदं धनादिसंपत्ति कथं न त्यजति मुंचति जनः कथमिति विस्मयगर्भे प्रश्ने। अत्रगुरुरुत्तरमाह :-

विपत्तिमात्मनो मूढः परेषामिव नेक्षते।
दह्यमान-मृगाकीर्णवनांतर-तरुस्थवत्॥ १४॥

भावार्थ *:- जैसे, सामज्वर से पीड़ित कोई एक मूर्ख जन, घी के उपयोग द्वारा अपने को स्वस्थ (निरोगी) मानता है; इसी तरह कोई एक मनुष्य, महाकष्ट से और दुःख से उपार्जित तथा रक्षित — ऐसे क्षणभंगुर धनादिक से अपने को सुखी मानता है।*

जैसे, सामज्वर में घी का उपयोग करने से बुखार मिटने के बदले बढ़ता है; इसी प्रकार धनादिक की ममता से सुख के बदले दुःख बढ़ता है, क्योंकि उसको उपार्जित करने में दुःख; उसका रक्षण करने में दुःख; और उसका नाश होने पर (वियोग होने पर) भी दुःख होता है; इस प्रकार प्रत्येक दशा में धन, दुःख का ही निमित्तकारण है; इसलिए लक्ष्मीवान लोग, धनादि से सुखी हैं — ऐसा मानना भ्रममूलक है।

पुनः शिष्य पूछता है — आश्चर्य है कि इस प्रकार की सम्पदा को लोग, क्यों नहीं छोड़ते? अर्थात्, दुःख से उपार्जित आदि कारणों से दोनों लोकों में (इस लोक में और परलोक में) भी दुःखदायक-ऐसी धनादि सम्पत्ति को लोग क्यों नहीं छोड़ते?

('कथम' शब्द विस्मयगर्भित प्रश्न को सूचित करता है।)

आचार्य उसका उत्तर देते हैं :—

कष्ट अन्य के देखता, पर अपनी सुध नाहिं।
तरु पर बैठा नर कहे, हिरण जले वन माँहि॥ १४॥

अन्वयार्थ *:-* **(दह्यमानमृगाकीर्णवनान्तरतरुस्थवत्)** [दावानल की ज्वाला से] जल रहे मृगों से आच्छादित वन के मध्य में वृक्ष पर बैठे हुए मनुष्य की तरह **(मूढ़)** [संसारी] मूढ़ प्राणी, **(परेषामिव)** अन्य की [विपत्ति की] तरह, **(आत्मनः विपत्तिं)** अपनी विपत्ति को **(न इक्षते)** नहीं देखता।

नेक्षते न पश्यति। कोऽसौ ? मूढः-धनाद्यासक्त्या लुप्तविवेको लोकः। कां ? विपत्तिं-चौरादिना क्रियमाणां धनापहाराद्यापदं। कस्य ? आत्मनः-स्वस्य। केषामिव ? परेषामिव, यथा इमे विपदा आक्रम्यन्ते तथाऽहमपि आक्रंतव्य इति न विवेचयतीत्यर्थः। क इव ? दह्यमान-मृगाकीर्ण-वनान्तर-तरुस्थवत्‌दह्यमानैः दावानलज्वालादिभिर्भस्मीक्रियमाणै-र्मृगैर्हरिणादिभिराकीर्णस्य संकुलस्य वनस्यांतरे मध्ये वर्तमानं। तरुं वृक्षमारूढो जनो यथा, आत्मनो मृगाणामिव विपत्तिं न पश्यति॥१४॥

कुत एतदिति ? लोभादिति-पुनराह शिष्यः भगवन्! कुत कस्माद्धेतो एतत् इदं सन्निहिताया

टीका :- नहीं देखता। वह कौन ? मूढ़, अर्थात् धनादि की आसक्ति से विवेकहीन बना हुआ लोक। किसको (नहीं देखता) ? विपत्ति को, अर्थात् चोर आदि से की जानेवाली धन अपहरण आदिरूप आपदा को। किसकी ? आत्मा की -अपनी। किसकी तरह ? अन्यों की तरह। जैसे, यह (मृग) आपदा से (सङ्कट से) घिर गये हैं; इसी तरह मैं भी (विपत्ति से) घिर जाऊँगा (विपत्ति का भोग बनूँगा) — ऐसा ख्याल वह नहीं करता — ऐसा अर्थ है। किसकी तरह ? जल जाते-दावानल की ज्वाला में भस्मीभूत बनते-मृगों से-हिरणादि से भरे हुए वन के मध्य में आये हुए, वृक्ष पर बैठे हुए मनुष्य की तरह, वह (मनुष्य) मृगों की विपत्ति की तरह, अपनी विपत्ति को नहीं देखता॥१४॥

भावार्थ :- *मृग आदि अनेक प्राणियों से भरे हुए वन में आग लगने पर, उससे बचने के लिए कोई एक मनुष्य, वन के मध्य में स्थित वृक्ष पर चढ़ बैठता है और अग्नि की ज्वालाओं से भस्मीभूत होते प्राणियों को निहारता है। उस समय वह ऐसा विचारता है कि 'मैं तो वृक्ष पर सही सलामत हूँ; अग्नि मुझे हानि नहीं करेगी', परन्तु उस अज्ञानी को पता नहीं है कि थोड़ी ही देर में अग्नि, वृक्ष को और उसको भी जला देगी। इस प्रकार मूढ़ जीव, धनादि के कारण दूसरों पर आनेवाली आपत्तियों को देखने पर भी, अपने को सही-सलामत मानता है और कभी विचार भी नहीं करता कि वैसी विपत्तियाँ देर-सवेर उस पर भी आ पड़ेंगी और कालाग्नि उसे भी भस्म कर देगी।*

पुनः शिष्य कहता है — ऐसा क्यों ? भगवन्! मनुष्य किस कारण से समीप आयी हुई आपदाओं को भी नहीं देखता ?

अपि विपदोऽदर्शनं जनस्य इति? गुरुराह वत्स! लोभादिति, धनादिगाध्यात् पुरोवर्तिनीमप्यापदं धनिनो न पश्यंति इति। यत -

आयुर्वृद्धिक्षयोत्कर्षहेतुं कालस्य निर्गमं।
वांछतां धनिनामिष्टं जीवितात्सुतरां धनम्॥ १५॥

वर्तते। किं तत्? धनं। किंविशिष्टं? इष्टं अभिमतं। कथं? सुतरां अतिशयेन कस्मात्? जीवितात् प्राणेभ्यः। केषां? धनिनां किं कुर्वतां? वांछतां। कं? निर्गमं अतिशयेन गमनं। कस्य? कालस्य। किंविशिष्टं? आयुर्वृद्धिक्षयोत्कर्षहेतुं आयुः क्षयस्य वृद्ध्युत्कर्षस्य च कालांतरवर्द्धनस्य कारणं अयमर्थः-धनिनां तथा जीवितव्यं नेष्टं यथा धनं। कथमन्यथा जीवितक्षयकारण-मपि धनवृद्धिहेतुं कालनिर्गमं वाञ्छंति। अतो 'धिग्धनम्' एवंविधव्यामोह-हेतुत्वात्।

गुरु कहते हैं — 'लोभ के कारण'। हे वत्स! धनादि की बुद्धि, अर्थात् आसक्ति से धनिक, सामने (आगे) उपस्थित (आ पड़ती) आपदा को भी नहीं देखते, क्योंकि :—

आयुक्षय, धनवृद्धि का, कारण जानो काल।
धन, प्राणों से प्रिय लगे, अतः धनिक बेहाल॥ १५॥

अन्वयार्थ :- **(कालस्य निर्गमं)** काल का निर्गमन (व्यतीत होना) तो **(आयुर्वृद्धिक्षयोत्कर्ष हेतुं)** आयु के क्षय का तथा (काल की) वृद्धि, उत्कर्ष का (ब्याज वृद्धि का) कारण है, **(वाञ्छतां धनिनाम्)** ऐसे इच्छते धनिकों को **(जीवितात्)** अपने जीवन से भी **(धनं)** धन **(सुतरां)** अतिशय (बहुत ही) **(इष्टं)** (प्रिय) होता है।

टीका :- होता है। वह क्या? धन। कैसा (होता है)? इष्ट-प्रिय। किस प्रकार? बहुत ही — अतिशय से; किससे? अपने जीवन से-प्राण से। किसको (प्रिय होता है)? धनिकों को। क्या करते? चाहते। क्या (चाहते)? निर्गमन को-अतिशयरूप से गमन को; किसके (गमन को)? काल के। कैसे प्रकार के? आयु (इत्यादि) (काल का गमन वह) आयुक्षय का कारण और वृद्धि (ब्याज की आमदनी में) वृद्धि का कारण है — ऐसा अर्थ है। धनिकों को जैसा धन इष्ट (प्रिय) होता है, वैसा जीवितव्य नहीं होता, वरना जीवन के क्षय का कारण होने पर भी, धनवृद्धि के

धनं कथं निंद्यं? येन पुण्यमुपार्ज्यते इति'-अत्राह शिष्यः। पात्रदानदेवार्चनादिक्रियायाः पुण्यहेतोर्धनं विना असंभवात्, पुण्यसाधनं धनं कथं निंद्यं? किं तर्हि प्रशस्यमेव अतो येन धनेन यथा कथंचिद्धनमुपार्ज्य पात्रादौ च नियुज्य सुखाय पुण्यमुपार्जनीयं इति। अत्राह —

त्यागाय श्रेयसे वित्तमवित्तः संचिनोति यः।
स्वशरीरं स पंकेन स्नास्यामीति विलिम्पति॥ १६॥

कारणरूप कालनिर्गमन को वे क्यों चाहें? इसलिए धन ऐसे व्यामोह का कारण होने से उसको धिक्कार हो॥१५॥

भावार्थ :- जैसे-जैसे काल व्यतीत होता है, वैसे-वैसे आयुकम होती जाती है परन्तु काल का वह अन्तर, धनिक को ब्याज आदि की आमदनी में वृद्धि करने का कारण होता है; इसलिए वह उसको (कालगमन को) उत्कर्ष का (आमदनी का) कारण गिनता है।

जो धनिक, लोभवश ब्याज आदि की आमदनी करने के लिए, काल का निर्गमन चाहते हैं, वे धन को अपने जीवन से भी अधिक प्रिय मानते हैं क्योंकि वे यह समझते हैं कि काल के निर्गमन से जैसे दिन बढ़ेंगे, वैसे ब्याज आदि बढ़ेगा, परन्तु उसकी आयु में से उतने दिन कम होंगे — इसका भान उन्हें नहीं होता। वे धनवृद्धि के लोभ में अपने जीवन (आयु) के विनाश की ओर लक्ष्य नहीं देते हैं।

इस प्रकार व्यामोह का कारण होने से धन, धिक्कार का पात्र है।

यहाँ शिष्य कहता है — जिससे पुण्य का उपार्जन होता है, वह धन निंद्य (निन्दा योग्य) कैसे? पुण्य के हेतुरूप पात्रदान, देवार्चनादि क्रियाएँ, धन के बिना असम्भवित हैं; अतः पुण्य के साधनरूप धन, निन्दा के योग्य किस प्रकार है? वह तो प्रशस्त (स्तुतिपात्र) ही है; इसीलिए किसी प्रकार धनोपार्जन करके (धन कमाकर), पात्रादि (पात्रदानादि) में खर्च करके, सुख के लिए पुण्य-उपार्जन करना चाहिए।

यहाँ आचार्य कहते हैं :—

निर्धन धन चाहे कहे, करूँ पुण्य दूँ दान।
कीच लिपे पर मानता, मूढ़ किया मैं स्नान॥ १६॥

यः अवित्तः, निर्धनः सन् संचिनोति सेवाकृष्यादिक-र्मणोपार्जयति। किं तत्? वित्तं-धनं। कस्मै? त्यागाय पात्रदान-देवपूजाद्यर्थं त्यागायेत्यस्य देवपूजाद्युपलक्षणार्थत्वात्। कस्मै त्यागः? श्रेयसे अपूर्वपुण्याय पूर्वोपात्तपापक्षयाय। यस्य तु चक्रवर्त्यादेरिवायत्नेन धनं सिद्ध्यति स तेन श्रेयोऽर्थं पात्रदाना-दिकमपि करोतु इति भावः। स किं करोति इत्याह विलिंपति विलेपनं करोति। कोऽसौ? सः, किं तत्? स्वशरीरं। केन? पङ्केनकर्द्दमेन।

अन्वयार्थ :- (**यः**) जो (**अवित्तः**) निर्धन (**श्रेयसे**) पुण्य की प्राप्ति के लिए (**त्यागाय**) दान करने के लिए (**वित्तं**) धन का (**संचिनोति**) संचय करता है, (**सः**) वह (**स्नास्यामि इति**) 'स्नान कर लूँगा' — ऐसा समझकर (**स्व शरीरं**) अपने शरीर को (**पंकेन**) कादव से (**विलम्पति**) लपेटता है (अर्थात्, अपने शरीर पर कादव लपेटता है।)

टीका :- जो धनरहित, अर्थात् निर्धन है, वह नौकरी, खेती आदि कार्य से सञ्चय करता है-उपार्जन करता है। वह क्या (सञ्चय करता है)? वित्त, अर्थात् धन। किसलिए? त्याग, अर्थात् पात्रदान, देवपूजा आदि (कार्य के) लिए, कारण कि 'त्याग' शब्द में देव-पूजादिक का अर्थ, गर्भित है। किसके लिए त्याग? कल्याण, अर्थात् अपूर्व पुण्य के लिए और पूर्वोपार्जित पाप के क्षय के लिए।

जिसको चक्रवर्ती आदि की तरह यत्नबिना धन की सिद्धि (प्राप्ति) होती है तो वह धन से पुरुषार्थ से पात्र-दानादिक करे — ऐसा भाव है।

(शिष्य) पूछता है — 'वह क्या करता है?' लपेटता है-लेपता है; वह कौन? वह (त्याग करनेवाला)। किसको (लेपता है)? अपने शरीर को। किसके द्वारा? पङ्क द्वारा-कादव द्वारा।

(शिष्य) पूछता है-'क्या समझकर?' 'स्नान कर लूँगा' — ऐसा समझकर। इसका अर्थ यह है कि-जैसे कोई एक (मनुष्य), 'स्नान कर लूँगा' — ऐसा समझकर अपने निर्मल (स्वच्छ) अङ्ग को (शरीर को) कादव से लेपता है, वह अविचारी (मूर्ख) है; इसी तरह पाप से धनोपार्जन करके पात्रदानादि के पुण्य से उसका (पाप का) नाश करूँगा — ऐसा समझकर, धन कमाने की प्रवृत्ति करनेवाला मनुष्य भी

कथं कृत्वा इत्याह स्नास्यामीति। अयमर्थः, यथा कश्चिन्निर्मलमङ्गं स्नानं करिष्यामीति पंकेन विलिंपन् असीक्ष्यकारी तथा पापेन धनुमुपार्ज्य पात्रदानादिपुण्येन पापं क्षपयिष्यामीति धनार्जने प्रवर्तमानोऽपि। न च शुद्धवृत्त्या कस्यापि धनार्जनं संभवति।

तथा चोक्तम् (आत्मानुशासने)-

''शुद्धैर्धनैर्विवर्धन्ते सतामपि न संपदः।
नहि स्वच्छांबुभिः पूर्णाः कदाचिदपि सिंधवः॥''

वैसा है (अविचारी है)। किसी भी शुद्धवृति से (मनोवृत्ति से) धनोपार्जन नहीं सम्भवता।

तथा 'आत्मानुशासन' में कहा है कि :—

'सत्पुरुषों की सम्पत्ति, शुद्धधन से' (न्यायोपार्जित धन से) नहीं बढ़ती; नदियों में कभी भी स्वच्छ जल का पूर नहीं आता (अर्थात्, वे वर्षा ऋतु में मलिन पानी से ही भरपूर रहती हैं)। (जैसे, वर्षा ऋतु में नदियों में गन्दे-मलिन जल का पूर आता है; इसी तरह अन्याय से उपार्जित धन से धन में बहुत वृद्धि होती है)॥१६॥

भावार्थ :- *'पूजा-पात्रदानादि में धन खर्च करने से नवीन पुण्य की प्राप्ति होगी और पूर्वोपार्जित पाप का क्षय होगा' — ऐसा समझकर, धनहीन मनुष्य, दान के लिए नौकरी, खेती आदि कार्य करके धन कमाता है। (धन कमाने का भाव स्वयं पापभाव है।) वह मनुष्य, 'स्नान कर लूँगा' — ऐसा समझकर, अपने शरीर पर कादव चोपड़ने (लेपने) वाले, मूर्ख मनुष्य जैसा है।*

जैसे, कोई मूर्ख मनुष्य, अपने निर्मल शरीर पर कादव लेपकर फिर स्नान करे तो वह मूर्ख गिना जाता है; इसी प्रकार कोई मनुष्य, धन कमाकर उस धन को दानादि में खर्च करे तो वह मनुष्य भी उसके जैसा ही मूर्ख है, क्योंकि वह यह समझता है कि धनोपार्जन में जो पाप होगा, वह दानादि से उपार्जित पुण्य से नष्ट हो जायेगा, परन्तु यह उसका भ्रम है।

जैसे, वर्षा ऋतु में नदियाँ गन्दे पानी से ही उफनती हैं; वैसे ही पापभाव से धन का उपार्जन होता है; इसलिए धनोपार्जन करने का पापभाव करना और फिर पुण्योपार्जन के लिए उस धन को पूजा-पात्रदानादि शुभकार्यों में मैं खर्च करूँगा — ऐसा अज्ञानभाव करना, मूढ़ता है।

पुनराह शिष्यः 'भोगोपभोगायेति'। भगवन्! यद्येवं धनार्जनस्य पापप्रायतया दुःखहेतुत्वात् धनं निन्द्यं, तर्हि धनं सुखहेतोर्भोगोपभोगस्यासंभवात्तदर्थं स्यादिति प्रशस्यं भविष्यति। भोगो भोजनताम्बूलादिः। उपभोगो वस्तु कामिन्यादिः। भोगाश्चोपभोगाश्च भोगोपभोगं तस्मै। अत्राह गुरुः। तदपि नेति न केवलं पुण्यहेतुतया धनं प्रशस्यमिति यत्त्वयोक्तं तदुक्तरीत्या न स्यात्। किं तर्हि? भोगोपभोगार्थं धनं तत्साधनं प्रशस्यमिति। यत्त्वया संप्रत्युच्यते तदपि न स्यात्। कुत इति चेत्, यतः।

आरंभे तापकान्प्राप्तावतृप्तिप्रतिपादकान्।
अंते सुदुस्त्यजान कामं कामान् कः सेवते सुधीः॥ १७॥

शिष्य फिर से कहता है — 'भोग और उपभोग के लिए।' हे भगवन! जो इस प्रकार धनोपार्जन में प्रायः पाप होता है और धन दुःख का कारण है और इससे वह निंद्य है तो धन के बिना, सुख के कारणरूप भोग-उपभोग असम्भवित बनते हैं; इसलिए उनके (भोग-उपभोग के) लिए धन हो तो वह प्रशंसनीय है।

भोजन, ताम्बूल आदि भोग और वस्तु, स्त्री आदि उपभोग है। भोग और उपभोग-वह भोगोपभोग, उनके लिए धन होना योग्य है — ऐसा शिष्य का तर्क है।

यहाँ आचार्य कहते हैं-यह बात भी नहीं है। 'पुण्य के कारण, धन प्रशंसनीय है' — ऐसा जो तूने कहा था, उस प्रकार प्रशंसनीय नहीं हो सकता तथा भोग-उपभोग के लिए उसका (धन का) साधन प्रशंसनीय है — ऐसा जो तूने अभी कहा है, वह भी कैसे हो सकता है? यदि तू कहे 'क्यों?' तो कारण यह है कि :—

भोगार्जन दुःखद महा, प्राप्ति समय अतृप्ति।
भोग-त्याग के समय कष्ट, सुधी छोड़ आसक्ति॥ १७॥

अन्वयार्थ :- (**आरम्भे**) आरम्भ में (**तापकान्**) सन्ताप करनेवाले (**प्राप्तौ अतृप्तिप्रतिपादकाम्**) प्राप्त होने से पर अतृप्ति करनेवाले और (**अन्तेसुदुस्त्यजान्**) अन्त में महा कठिनाई से भी छोड़ा न जा सके, ऐसे (**कामान्**) भोगोपभोगों को (**कः सुधीः**) कौन बुद्धिशाली (**कामं**) आसक्ति से (**सेवते**) सेवन करेगा।

टीका :- कौन? कोई बुद्धिशाली-विद्वान सेवन नहीं करेगा, अर्थात् इन्द्रियों द्वारा भोगेगा नहीं। किसको? भोगोपभोगों को।

कः, न कश्चित् सुधीः विद्वान् सेवते इंद्रियप्रणालिकया-ऽनुभवति। कान्? भोगोपभोगान्। उक्तं च-

''तदात्वसुखसंज्ञेषु भावेष्वज्ञोऽनुरज्यते।
हितमेवानुरुध्यंते प्रपरीक्ष्य परीक्षकाः॥''

कथं भूतान्, कामान् तापकान् देहेंद्रियमनः क्लेशहेतून्। क्व? आरंभे उत्पत्त्युपक्रमे। अन्नादिभोग्यद्रव्य-संपादनस्य कृष्यादि क्लेशबहुलतया सर्वजनसुप्रसिद्धत्वात्। तर्हि किं भुज्यमानाः कामाः संभूतिसेव्यास्ते इति अत्राह। प्राप्तौ इन्द्रियेण सम्बन्धे सति अतृप्ति प्रतिपादकान् अतृप्तेः सुतृष्णायाः प्रतिपादकान् दायकान्। उक्तं च (ज्ञानार्णवे) -

''अपि संकल्पिताः कामाः संभवंति यथा यथा।
तथा तथा मनुष्याणां तृष्णा विश्वं विसर्पति॥''२०-३०

कहा है कि **'तदात्त्वसुखसंज्ञेषु........'**

'उन सुख नाम से पहिचाने जानेवाले भोगों में अज्ञानी (हेय-उपादेय का विवेक नहीं करनेवाला) अनुराग करता है, परन्तु परीक्षाप्रधानीजन भलीभाँति परीक्षा करके हित का ही अनुसरण करते हैं, (जिससे हित हो, उसका ही अनुसरण करते हैं)।'

कैसे (भोगोपभोगों को)? सन्ताप करनेवाले, अर्थात् देह, इन्द्रियों और मन को क्लेश के कारणरूप। कब? आरम्भ में-उत्पत्ति के क्रम में, क्योंकि अन्नादि भोग्यद्रव्य (वस्तु) का सम्पादन करने में खेती आदि सम्बन्धी बहुत क्लेश रहता है, यह सर्वजनों में सुप्रसिद्ध है। तब कहते हैं कि भोगने में आते हुए भोग तो सुख के कारण हैं; इसलिए वे सेवन योग्य हैं। तो (उत्तर में) कहते हैं — **'प्राप्तावित्यादि'** — प्राप्ति के समय, अर्थात् इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध होने पर, वे (भोग) अतृप्ति करनेवाले, अर्थात् बहुत तृष्णा उत्पन्न करनेवाले हैं।

(ज्ञानार्णव ग्रन्थ में) कहा है कि — **'अपि संकल्पिताः.....'**

'जैसे-जैसे सङ्कल्पित (इच्छित) भोगोपभोग प्राप्त होते हैं, वैसे-वैसे मनुष्यों की तृष्णा (बढ़कर) सम्पूर्ण विश्व में फैल जाती है।'

(शिष्य) कहता है, तब इच्छानुसार उन (भोगोपभोग को) भोगकर तृप्त होने पर, तृष्णारूपी सन्ताप मिट जायेगा; इसलिए वे सेवन-योग्य हैं।

तर्हि यथेष्टं भूक्त्वातृप्तेषु तृष्णासंतापः शाम्यतीति सेव्यास्ते इत्याह। अंते सुदुस्त्यजान् भुक्तिप्रांते त्यक्तुमशक्यान्। सुभक्तेष्वपि तेषु मनोव्यतिषङ्गस्य दुर्निवारत्वात्। उक्तं च (चन्द्रप्रभकाव्ये)–

'दहनस्तृणकाष्ठसंचयैरपि तृप्येदुदधिर्नदीशतैः।
न तु कामसुखैः पुमानहो बलवत्ता खलु काऽपि कर्म्मणः॥

अपि च -

'किमपीदं विषयमयं विषमतिविषमं पुमानयं येन।
प्रसभमनुभूयमानो भवे भवे नैव चेतयते॥'

ननु तत्त्वविदोऽपि भोगानभुक्तवंतो न श्रूयंते इति कामान् कः सेवते सुधीः इत्युपदेशः कथं श्रद्धीयत इत्याह कामं इति। कामं अत्यर्थं। इदमत्र तात्पर्यं चारित्रमोहोदयात्। भोगान्

(आचार्य) कहते हैं–अन्ततः उन्हें छोड़ना मुश्किल है, अर्थात् भोगने के पश्चात् उनको छोड़ना अशक्य है, कारण कि उन्हें अच्छी तरह भोगने पर भी, मन की आसक्ति का निवारण मुश्किल है।

(चन्द्रप्रभकाव्ये में)कहा है कि — **'दहन........।'**

यद्यपि अग्नि, घास, लकड़ी आदि के ढ़ेर से तृप्त हो जाए और समुद्र, सैकड़ों नदियों से तृप्त हो जाए, परन्तु पुरुष इच्छित सुखों से तृप्त नहीं होता। अहो! कर्म की ऐसी कोई (विचित्र) बलजोरी (बलवानपना) है।'

और भी कहा है — **'किमपीदं........'**

'अहो! यह विषयरूपी विष कैसा अति विषम (भयङ्कर) है कि जिससे यह पुरुष, उसका भव-भव में अनुभव करने पर भी (विषयसुख के अनुभव से उत्पन्न होते दुःखों का अनुभव करने पर भी) उसका मन चेतता ही नहीं।'

शिष्य पूछता है — तत्त्वज्ञानियों ने भी भोगों को न भोगा हो — ऐसा सुनने में नहीं आया है (अर्थात्, यह विदित है कि तत्त्वज्ञानी भी भोगों को भोगते हैं); तो 'कौन बुद्धिमान भोगों का सेवन करेगा (भोगेगा)!' — ऐसे उपदेश में किस प्रकार श्रद्धा की जाए?

आचार्य कहते हैं — (ज्ञानी), **'कामम्',** अर्थात् अतिशयरूप से (आसक्तिपूर्वक -रुचिपूर्वक उनका सेवन नहीं करता)। यहाँ तात्पर्य यह है कि —

त्यक्तुमशवनुवन्नपि तत्त्वज्ञो हेयरूपतया कामान्पश्यन्नेव सेवते, मंदीभवन्मोहोदयस्तु ज्ञान-वैराग्य-भावनया करणग्रामं संयम्य सहसा स्वकार्यायोत्सहत एव। तथा चोक्तम्-

'इदं फलमियं क्रिया करणमेतदेष क्रमो,
व्ययोऽयमनुषंगजं फलमिदं दशयं मम।
अयं सुहृदयं द्विषन् प्रयतिकालदेशाविमाविति
प्रतिवितर्कयन् प्रयतते बुधो नेतरः॥

चारित्रमोह के उदय से भोगों को छोड़ने में असमर्थ होने पर भी, तत्त्वज्ञानी, भोगों को हेयरूप समझकर (अर्थात्, वे छोड़ने योग्य हैं — ऐसा समझकर) सेवन करता है। जिसका मोह का उदय मन्द पड़ गया है — ऐसा वह (ज्ञानी), ज्ञान और वैराग्य की भावना से इन्द्रियसमूह को वश करके (इन्द्रियों की ओर के झुकाव को संयमित करके), एकाएक (शीघ्र) आत्मकार्य के लिए उत्साहित होता है।

तथा कहा है कि — '**इदंफलमिय......**'

'यह फल है, यह क्रिया है, यह करण है, यह क्रम है, यह व्यय (हानि-खर्च) है, यह आनुषङ्गिक (भोगों को अनुसरता) फल है, यह मेरी दशा है, यह मित्र है, यह शत्रु है, यह देश है, यह काल है — इन सब बातों पर पूरा ख्याल रखकर, बुद्धिमान पुरुष प्रयत्न करता है, परन्तु अन्य (कोई मूर्ख) वैसा नहीं करता।'

आचार्य फिर से कहते हैं — 'यदर्थमेतदेवंविधमिति।'

भावार्थ :- *भोगोपभोग आदि-मध्य-अन्त में क्लेश, तृष्णा और आसक्ति का कारणभूत हैं। भोग्य वस्तुओं को प्राप्त करने में, कृषि, नौकरी इत्यादि कारणों से आरम्भ में शरीर, इन्द्रियों और मन सम्बन्धी क्लेश होता है-अत्यन्त कष्ट पड़ता है। जब मुश्किल से भोग्य वस्तुएँ प्राप्त होती हैं, तब उनको भोगने पर भी तृप्ति नहीं होती; पुनः-पुनः उन्हें भोगने की इच्छा होती है और उससे चित्र व्याकुल रहता है। अतृप्तिवश उनको (भोगों को) छोड़ने का भाव नहीं होता।*

जैसे, अग्नि में कितना ही काष्ठ-तृण डालो, तो भी वह तृप्त नहीं होती और समुद्र, सैकड़ों नदियों के पानी से भी तृप्त नहीं होता; इसी तरह मनुष्य की तृष्णा अनेक भोगों से भी कभी तृप्त नहीं; अपितु बढ़ती जाती है।

किंच 'यदर्थमेतदेवंविधमिति।' भद्र! यत्कायलक्षणं वस्तुसंतापाद्युपेतं कर्तुकामेन भोगाः प्रार्थ्यन्ते तद्वक्ष्यमाणलक्षणमित्यर्थः। स एवंविध इत्यपि पाठः। तद्यथा —

भवंति प्राप्य यत्संगमशुचीनि शुचीन्यपि।
स कायः संततापायस्तदर्थं प्रार्थना वृथा॥ १८॥

क्लेशजनक, अतृप्तिकारक और आसक्ति के कारण छोड़ना मुश्किल — ऐसे भोगों का कौन बुद्धिमान पुरुष सेवन करेगा? अर्थात्, कोई बुद्धिमान पुरुष सेवन नहीं करेगा।

*यहाँ शिष्य का **प्रश्न** है कि — यदि भोगों के भोगने के भाव से अहित हो और वे सेवन करने योग्य नहीं हैं — ऐसा यदि तुम्हारा उपदेश हो, तो भरत जैसे ज्ञानी पुरुषों को भी भोग भोगते सुनने में आया है; अतः यह बात आपके उपदेश के साथ असङ्गत ठहरती है, उसका कैसे (मेल बैठेगा)?*

***समाधान** करते हुए आचार्य कहते हैं कि-यद्यपि ज्ञानी पुरुष, चारित्रमोहनीयकर्म के उदयवश भोगों को भोगने का भाव छोड़ने में असमर्थ हैं परन्तु उनको उनके प्रति आन्तरिक राग नहीं है। वे, श्रद्धा और ज्ञान में राग को अहितकर मानते हैं, इस कारण जिस प्रकार अज्ञानी, भोगों को हितकर समझकर उनको एकताबुद्धि से भोगता है, उस प्रकार भोगने का भाव, ज्ञानी को नहीं है; उसको परद्रव्य के स्वामीपने का और कर्तापने का अभिप्राय नहीं है। रागरूप परिणमन है, वह चारित्र की कमजोरी है; उसका वह ज्ञाता है; इसलिए उसके अज्ञानरूप कर्तापना और भोक्तापना नहीं है। इस अपेक्षा से ज्ञानी, भोगों का सेवन करते हुए भी, सेवन नहीं करता, क्योंकि भोगने की क्रिया के समय भी उसका ज्ञानरूप परिणमन नहीं छूटता। अस्थिरता के कारण दिखनेवाले राग का उसको अभिप्राय में निषेध है।*

आचार्य फिर से कहते हैं कि-और जिसके लिए वे हैं, वह इस प्रकार है — अर्थात्, 'भद्र! जिस शरीर के लिए तू (अनेक) दुःख / बेगार से (भोगोपभोग की) वस्तुएँ प्राप्त करना चाहता है, उसका लक्षण (स्वरूप) आगे बताया जाता है — ऐसा अर्थ है। वह इस प्रकार है :—

हो जाते शुचि भी अशुचि, छूकर जिसको अर्थ।
काया है अति विघ्नमय, उस हित भोग अनर्थ॥ १८॥

वर्तते। कोऽसौ ? स कायः शरीरं। किंविशिष्टः ? संततापायः नित्यक्षुधाद्युपतापः। स क, इत्याह-यत्संगं-येन कायेन सह संबंधं, प्राप्य लब्ध्वा शुचीन्यपि पवित्ररम्याण्यपि भोजनवस्त्रादि- वस्तून्यशुचीनि भवंति। यतश्चैवं ततस्तदर्थं तं संततापायं, कायं शुचिवस्तुभिरुपकर्तुं प्रार्थना आकांक्षा तेषामेव वृथा-व्यर्था केनचिदुपायेन निवारितेऽपि एकस्मिन्नपाये क्षणे क्षणे पराऽपरापायोपनिपातसम्भवात्॥१८॥

अन्वयार्थ :- **(यत् संगे)** जिसका सङ्ग **(प्राप्य)** पाकर **(शुचीनि अपि)** पवित्र पदार्थ भी **(अशुचीनि)** अपवित्र **(भवन्ति)** हो जाते हैं, **(सः कायः)** वह शरीर **(संततापायः)** हमेशा बाधाओं (उपद्रव) सहित है; इसलिए **(तदर्थे)** उसके लिए **(प्रार्थना)** (भोगोपभोग की) प्रार्थना (आकाँक्षा) करना **(वृथा)** व्यर्थ है।

टीका :- वर्तता है। वह कौन? वह काय-शरीर। कैसा (शरीर)? सतत (हमेशा) बाधावाला, अर्थात् नित्य क्षुधादि बाधावाला है। (शिष्य) पूछता है — 'वह कौन है?' जिसके सङ्ग से, अर्थात् जिस शरीर के साथ सम्बन्ध करके (पाकर), पवित्र तथा रमणीय भोजन, वस्त्रादि वस्तुएँ भी अपवित्र हो जाती हैं — ऐसा है, इसलिए उसके लिए, अर्थात् उस सतत बाधावाली काया पर, पवित्र वस्तुओं से उपकार करने के लिए प्रार्थना, अर्थात् आकाँक्षा (करना) वृथा / व्यर्थ है क्योंकि किसी उपाय से एकाध बाधा दूर करने में आवे तो भी प्रतिक्षण (क्षण-क्षण) अन्य-अन्य बाधाएँ आ पड़ें, वैसी सम्भावना है॥१८॥

भावार्थ :- *शरीर के प्रति राग, हमेशा सन्तापजनक है, क्योंकि उसके साथ क्षुधा-तृषादि अनेक वेदनाएँ उत्पन्न होती हैं, वह रोग का घर है और पवित्र तथा सुन्दर भोजन-वस्त्रादि वस्तुएँ भी उसके सम्पर्क से मलिन, दुर्गन्धित और अपवित्र हो जाती हैं। ऐसे घृणित शरीर को अच्छा रखने की दृष्टि से, भोगोपभोग की सामग्री की इच्छा करना निरर्थक है।*

वास्तव में शरीरादि सन्ताप का कारण नहीं, अपितु उनके प्रति होनेवाला ममत्वभाव-एकताबुद्धि ही सन्ताप का वास्तविक कारण है। जिसको शरीर के प्रति ममत्वभाव नहीं है, उसको शरीर को अच्छा रखने की बुद्धि से भोगोपभोग की सामग्री की चिन्ता या इच्छा नहीं रहती।

'तर्हि धनादिनाप्यात्मोपकारो भविष्यतीति' तन्नेति पुनरप्याह शिष्यः! भगवन्! संततापायतया कायस्य धनादिना यद्युपकामो न स्यात्तर्हिं धनादिनाऽपि न केवलमनशनादितपश्चरणेन इत्यपि शब्दार्थः। आत्मनो जीवस्योपकारोऽनुग्रहो भविष्यतीत्यर्थः।

गुरुराह। यत्त्वया धनादिना आत्मोपकारभवनं संभाव्यते तन्न तन्नास्तीति। यतः -

यज्जीवस्योपकाराय तद्देहस्याऽपकारकम्।
यद्देहस्योपकाराय तज्जीवस्यापकारकम्॥ १९॥

यत् अनशनादितपोऽनुष्ठानं जीवस्य पूर्वापूर्वपापक्षपण-निवारणाभ्यां उपकाराय स्यात्तद्देहस्यापकारकं ग्लान्यादिनिमित्तत्वात्। यत्पुनर्धनादिकं देहस्य भोजनाद्युपयोगेन क्षुधाद्युपता-पक्षयत्वादुपकाराय स्यात्तज्जीवस्योपार्ज्जनादौ पापजनकत्वेन दुर्गति-

---

फिर से शिष्य कहता है — तब धनादि से भी आत्मा का उपकार होगा, अर्थात् भगवन्! शरीर सतत बाधा का कारण होने से, उस पर धनादि से उपकार नहीं होता, तो आत्मा का उपकार केवल उपवास आदि तपश्चर्या से ही नहीं, अपितु धनादिक से भी होगा। आत्मा का, अर्थात् जीव का; उपकार, अर्थात् अनुग्रह होगा — ऐसा अर्थ है।

गुरु कहते हैं — वैसा नहीं है, अर्थात् तू धनादि से आत्मा का उपकार होना मानता है, परन्तु वैसा नहीं है क्योंकि :—

करें आत्म-उपकार जो, उनसे तन-अपकार।
जो उपकारक देह के, उनसे आत्म-अपकार॥ १९॥

अन्वयार्थः- **(यत्)** जो **(जीवस्य उपकाराय)** जीव को (आत्मा को) उपकारक है, **(तद्)** वह **(देहस्य अपकारकं)** देह को अपकारक **(भवति)** है (तथा) और **(यद्)** जो **(देहस्य उपकाराय)** देह को उपकारक है, **(तद्)** वह **(जीवस्य अपकारकं)** जीव को अपकारक **(भवति)** है।

टीका :- जो अनशनादि तप का अनुष्ठान, जीव को पुराने तथा नये पापों को नाश करने में तथा दूर करने में कारणभूत होने से, जीव को उपकारक है, वह (तपादि आचरण) देह को ग्लानि आदि का कारण होने से अपकारक है, और जो धनादिक, भोजनादिक के उपयोग द्वारा क्षुधादि पीड़ा को नाश करने का कारण होने से, शरीर

दु:खनिमित्तत्वादपकारकं स्यादतो जानीहि जीवस्य धनादिना नोपकारगंधोऽप्यस्ति धर्मस्यैव तदुपकारकत्वात्।

तर्हि कायस्योपकारश्चिंत्यते इति तन्नेति-अत्राह शिष्य:। भगवन्! यद्येवं तर्हि 'शरीरमाद्यं खलु धर्म्मसाधनम्' इत्यभि-धानात्तस्यापायनिरासाय यत्न: क्रियते न च कायस्यापायनिरासो दुष्कर इति वाच्यं। ध्यानेन तस्यापि सुकरत्वात्। तथा चोक्तम् (तत्त्वानुशासने) -

को उपकारक है; उस (धन के) उपार्जनादिक में पाप उत्पन्न होता होने से और वह पाप, दुर्गति के दु:ख का कारण होने से, जीव को अपकारक है; इसलिए धनादिक द्वारा जीव के उपकार की गन्ध भी नहीं है, अपितु धर्म का ही उस पर उपकार है — ऐसा जान॥१९॥

भावार्थ* :- *निश्चय अनशनादि तप के अनुष्ठान से पुराने तथा नये कर्मों का अभाव होता है; इसलिए वह जीव को उपकारक है परन्तु उस तपादि के अनुष्ठान से शरीर में शिथिलतादि उत्पन्न होते हैं; इसलिए वह शरीर को अपकारक (अहितकर) है।

भोजनादिक के भोग द्वारा क्षुधादि पीड़ाएँ दूर करने में धन, निमित्त है; इसलिए शरीर को उपकारक है, परन्तु वह धन कमाने में पाप होता है और पाप से दुर्गति के दु:खों की प्राप्ति होती है; इसलिए धनादिक, जीव को अपकारक-अहितकर है।

इसलिए समझना चाहिए कि धनादिक द्वारा जीव को लेशमात्र उपकार नहीं होता; जीव का उपकार तो निश्चय आत्मधर्म से ही होता है।

यहाँ शिष्य कहता है — तब शरीर के उपकारसम्बन्धी विचार किया जाता है। भगवन्! यदि ऐसा हो तो, 'शरीर, वास्तव में धर्म का आद्य साधन है — इस कथन से उसका (रोगादि से) नाश होना रोकने का प्रयत्न किया जाता है और शरीर के (रोगादिक) अपायों को (बाधाओं को) दूर करना भी मुश्किल नहीं — ऐसा वाच्य है। कारण कि ध्यान द्वारा उन्हें (रोगादि का दूर करना) सहजता से किया जाता है, तथा तत्त्वानुशासन श्लोक २१७ में कहा है कि — 'यदात्रिकं......'

'जो इस लोक सम्बन्धी फल हैं और जो परलोक सम्बन्धी फल हैं, उन दोनों फलों का प्रधान कारण ध्यान ही है।' 'ध्यान के लिए कुछ भी दुर्लभ नहीं है।'

''यदात्रिकं फलं किंचित्फलमामुत्रिकं च यत्।
एतस्य द्वितयस्यापि ध्यानमेवाऽग्रकारणम्''॥ २१७॥

'झाणस्स ण दुल्लहं किंपि इति च-अत्र गुरुः प्रतिषेधमाह तन्न ध्यानेन कायस्योपकारो न चिंत्य इत्यर्थः।

इतश्चिन्तामणिर्दिव्य इतः पिण्याकखण्डकम्।
ध्यानेन चेदुभे लभ्ये क्वाऽऽद्रियन्तां विवेकिनः॥ २०॥

अस्ति। कोऽसौ? चिन्तामणिः-चिंततार्थप्रदो रत्नविशेषः। किंविशिष्टो? दिव्यो देवेनाधिष्ठितः। क्व इतः? अस्मिनेकस्मिन् पक्षे इतश्चान्यस्मिन् पक्षे पिण्याकखण्डकं कुत्सितं अल्पं वा खलखंडकं अस्ति। एते च उभे द्वे अपि यदि ध्यानेन लभ्ये-अवश्यं लभ्ये, तर्हि कथय क्व द्वयोर्मध्ये कतरस्मिन्नेकस्मिन् विवेकिनः लोभच्छेदविचारचतुरा आद्रियंतां आदरं कुर्वन्तु। तदैहिकफलाभिलाषं त्यक्त्वा आमुत्रिकफलसिद्ध्यर्थमेवात्मा ध्यातव्यः।

इस विषय में आचार्य निषेध करते हैं कि-'वैसा नहीं है, 'ध्यान के द्वारा, शरीर का उपकार नहीं चिन्तवन करना चाहिए — ऐसा अर्थ है।'

चिन्तामणि-सा दिव्यमणि, और खली के टूक।
सम्भव है सब ध्यान से, किसे मान दें बुद्ध?॥ २०॥

अन्वयार्थ :- **(इतः दिव्य चिन्तामणिः)** एक ओर दिव्य चिन्तामणि है **(इतः च पिण्याकखण्डम्)** और दूसरी ओर खली (खल) का टुकड़ा है, **(चेत्)** यदि **(ध्यानेन)** ध्यान द्वारा **(उभे)** दोनों **(लभ्ये)** प्राप्त हो सके, वैसे हैं, तो **(विवेकिनः)** विवेकीजन **(क्व आद्रियन्ताम्)** किसका आदर करेंगे?

टीका :- है; कौन वह? चिन्तामणि, अर्थात् चिन्तित पदार्थ देनेवाला रत्नविशेष। कैसा (चिन्तामणि)? दिव्य, अर्थात् देव द्वारा अधिष्ठित। कहाँ? एक बाजू, अर्थात् एक और (चिन्तामणि है) और दूसरी बाजू, अर्थात् दूसरी ओर खराब तथा हल्का खली का टुकड़ा है। ये दोनों भी यदि ध्यान से प्राप्त हों-अवश्य मिल जाएँ तो कहो दोनों में से किस एक में विवेकीजन, अर्थात् लोभ का नाश करने के विचार में चतुर पुरुष, आदर करेंगे? इसलिए इस लोकसम्बन्धी फल की अभिलाषा छोड़कर, परलोक

उक्तं च (तत्त्वानुशासने)-

"तद्ध्यानं रौद्रमार्त्तं वा यदैहिकफलार्थिनां।
तस्मादेतत्परित्यज्य धर्म्मं शुक्लमुपास्यताम्॥"२२०

स आत्मा कीदृश इति-अथेवमुद्बोधितश्रद्धानो विनेयः पृच्छति यो युष्माभिर्ध्यातव्यतयोपदिष्टः पुमान् स किंस्वरूप इत्यर्थः। गुरुराह -

स्वसंवेदनसुव्यक्तस्तनुमात्रो निरत्ययः।
अत्यंतसौख्यवानात्मा लोकालोकविलोकनः॥ २१॥

-सम्बन्धी (लोकोत्तर) फल की सिद्धि के लिए, आत्मा ही का ध्यान करना चाहिए। तत्त्वानुशासन श्लोक २२० में कहा है कि — '**तद्ध्यानं.....**'

'जो रौद्रध्यान और आर्तध्यान है, वह इस लोकसम्बन्धी फल की इच्छा करनेवालों को होता है; इसलिए उसका त्याग करके, धर्मध्यान व शुक्लध्यान की उपासना करनी चाहिए॥२०॥

भावार्थ :- एक ओर चिन्तामणि रत्न है और दूसरी ओर खली का टुकड़ा है। दोनों की प्राप्ति, ध्यान से होती है, परन्तु इन दोनों चीजों में से विवेकीजन चिन्तामणि रत्न का ही आदर करेगा; इसी प्रकार धर्मीजीव, खली के टुकड़े समान इस लोक-सम्बन्धी पराधीन इन्द्रियजनित सुख,जो वास्तव में दुःख है, उसका आदर छोड़कर, धर्म-शुक्लध्यान की आराधना द्वारा, चिन्तामणि समान वास्तविक आत्मिक सुख की प्राप्ति करना पसन्द करेंगे।

इसलिए आर्त और रौद्र, इन दो ध्यानों का परित्याग करके, आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिए धर्म और शुक्ल — इन दोनों ध्यानों की उपासना करनी चाहिए।

अब शिष्य, जिसको समझाये जाने पर श्रद्धान उत्पन्न हुआ है, वह पूछता है — 'ध्यान करने योग्य है' — ऐसा आपने जिसका उपदेश दिया है, उस आत्मा का क्या स्वरूप है? — ऐसा अर्थ है।

गुरु कहते हैं :—

निज अनुभव से प्रगट है, नित्य शरीर-प्रमान।
लोकालोक निहारता, आतम अति सुखवान॥ २१॥

अस्ति। कोऽसौ ? आत्मा। कीदृशः ? लोकालोकविलोकनः लोकोजीवद्याकीर्णमाकाशं ततोऽन्यदलोकः तौ विशेषेण अशेषविशेषनिष्ठतया लोक्यते पश्यति जानाति इति (विलोकनः)। एतेन ''ज्ञानशून्यं चैतन्यमात्रमात्मा'' इति सांख्यमतं, बुद्धयादिगुणोज्झितः पुमानिति यौगमतं च प्रत्युक्तं। प्रतिध्वस्तश्च नैरात्म्यवादो बौद्धानां। पुनः कीदृशः ? अत्यन्त-सौख्यवान्-अनन्तसुखस्वभावः एतेन सांख्य यौगतन्त्रं प्रत्याहतं। पुनरपि कीदृशः ? तनुमात्रः स्वोपात्तशरीर-परिमाणः इति। एतेन व्यापकं वटकणिकामात्रं चात्मानं वदंतौ प्रत्याख्यातौ।

अन्वयार्थ :- **(आत्मा)** आत्मा **(लोकालोक विलोकनः)** लोक और अलोक का ज्ञाता-दृष्टा, **(अत्यन्त सौख्यवान्)** अत्यन्त-अनन्त सुख स्वभाववाला, **(तनुमात्रः)** शरीरप्रमाण, **(निरत्ययः)** अविनाशी [नित्य] और **(स्वसंवेदनसुव्यक्तः अस्ति)** स्व-संवेदन द्वारा अच्छी तरह व्यक्त [प्रगट] है। [अर्थात् स्व-संवेदन प्रत्यक्ष है]।

टीका :- है। कौन वह ? आत्मा। कैसा (आत्मा) ? लोक और अलोक का ज्ञाता-दृष्टा, अर्थात् जीवादि द्रव्यों से व्याप्त आकाश, सो लोक और उससे अन्य (आकाश), सो अलोक-इन दोनों से विशेषरूप से, अर्थात् अशेषरूप से (कुछ भी शेष रखे बिना) परिपूर्णरूप से जो अवलोकता है-देखता है-जानता है, वह इनसे (ऐसा कहकर) **'ज्ञानशून्य चैतन्यमात्र आत्मा'** — ज्ञानशून्य चैतन्यमात्र ही आत्मा है — ऐसे सांख्यमत का तथा **'बुद्धादिगुणोज्झितः पुमानिति'** — बुद्धि आदि (बुद्धि, सुख, दुःख आदि) गुणों से रहित, पुरुष (आत्मा है) — ऐसे योगमत का खण्डन किया तथा बौद्धों के **'नैरात्मवाद'** का भी खण्डन हो गया।

और (आत्मा) कैसा है ? अत्यन्त सौख्यवान, अर्थात् अनन्त सुखस्वभावी है। इससे (ऐसा कहने से) सांख्य और योगमत (दर्शन) का खण्डन हुआ; और (आत्मा) कैसा है ? 'तनुमात्र', अर्थात् स्वयं ग्रहण किये हुए शरीरप्रमाण है। इससे (इस कथन से) आत्मा, व्यापक है अथवा 'वट कणिकामात्र' है, अर्थात् 'आत्मा, बड़ के बीज जैसा अत्यन्त छोटा है' — ऐसा कहनेवालों का, खण्डन किया और (वह आत्मा) कैसा है ? **'निरत्ययः'**, अर्थात् द्रव्यरूप से आत्मा नित्य है। इससे 'गर्भादि से मरणपर्यन्त ही जीव रहता है' — ऐसा कहनेवाले चार्वाक का खण्डन किया।

पुनरपि कीदृशः ? निरत्ययाः द्रव्यरूपतया नित्यः एतेन गर्भादिमरणपर्यन्तं जीवं प्रतिजानानश्चार्वाको निराकृतः ननु प्रमाणसिद्धे वस्तुन्येव गुणवादः श्रेयान्नचात्मनस्तथा प्रमाणसिद्धत्वमस्तीत्यारेकाया-माह। स्वसंवेदन-सुव्यक्तः इति।

(उक्तं च तत्त्वानुशासने)-

''वेद्यत्वं वेदकत्वं च यत्स्वस्य स्वेन योगिनः।
तत्स्वसंवेदनं प्राहुरात्मनोऽनुभवं दृशम्॥ १६१॥''

इत्येवं लक्षणस्वसंवेदनप्रत्यक्षेण सकलप्रमाणधुर्येण सुव्यक्तः सु-सुष्ठु उक्तैश्च गुणैः संव्यक्तः इत्यपि पाठः संपूर्णतया व्यक्तः विशदतयानुभूतो योगिभिः स्वेकदेशेन ?॥२१॥

शिष्य को आशङ्का है कि प्रमाणसिद्ध वस्तु का ही ऐसा गुणवाद ठीक (उचित) है परन्तु आत्मा की वैसी प्रमाणसिद्धता तो नहीं है; (अत: उपरोक्त विशेषण से आत्मा का गुणवाद कैसे सम्भव है?) — ऐसी शङ्का का समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं :—

वह आत्मा, **'स्वसंवेदन-सुव्यक्तः'** स्वसंवेदन द्वारा भली प्रकार व्यक्त है (अर्थात्, आत्मा स्वसंवेदन प्रत्यक्ष है); इसलिए वह सम्भव है।

तत्त्वानुशासन श्लोक १६१ में कहा है कि — **'वेद्यत्वं.....'**

'योगी को अपने आत्मा का, आत्मा द्वारा जो वेद्यपना तथा वेदकपना है, उसको स्वसंवेदन कहते हैं। वह आत्मा का अनुभव अथवा दर्शन है।'

इस प्रकार के लक्षणवाला स्वसंवेदन प्रत्यक्ष आत्मा, जो सर्व प्रमाणों में मुख्य अथवा अग्रणी प्रमाण है, उससे तथा उक्त गुणों से अच्छी तरह सम्पूर्णरूप से व्यक्त (प्रगट) है, वह योगियों को एक देश विशदरूप से अनुभवने में आता है॥२१॥

***भावार्थ** :- आचार्य ने इस श्लोक में :—*

१. लोक-अलोक को जाननेवाला, २. अत्यन्त-अनन्त सुखस्वभाववाला, ३. शरीरप्रमाण, ४. अविनाशी, और ५. स्व-संवेदनगम्य — आत्मा के ऐसे पाँच विशेषण देकर आत्मा की विशिष्टता दर्शायी है।

उनकी विशिष्टता इस प्रकार है :—

१. सर्वज्ञ का आत्मा, लोकालोक को जानता है — यह व्यवहारनय का कथन है परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वे जानते ही नहीं। वे जानते तो हैं परन्तु पर-पदार्थों के साथ एकता करके (एकमेक होकर) नहीं जानते। यदि वे एकता करके जाने तो वे अन्य जीवों के राग-द्वेष के कर्ता और उन जीवों के सुख-दुःख के भोक्ता हों, जो कभी नहीं होता।

दर्पण की तरह आत्मा में (ज्ञान में) ऐसी निर्मलता है कि उसमें तीन लोक के सर्व पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं; इसलिए अपने आत्मा को जानने पर, सभी उसमें जानने में आ जाते हैं।

केवलज्ञान की एक समय की पर्याय, तीन लोक के अनन्त पदार्थों, उनके प्रत्येक के अनन्त-अनन्त गुणों और प्रत्येक गुण की त्रिकालवर्ती अनन्त-अनन्त पर्यायों को युगपत् (एक साथ) जैसा है, वैसा जानती है; अर्थात् जिस द्रव्य की, जो पर्याय, जिस काल में, जिस क्षेत्र में हो गयी है, होनेवाली हो और होती हों तथा उन-उन पर्यायों को अनुकूल जो-जो बाह्य निमित्त हों, उन सबको केवली भगवान एक साथ जैसे हैं, वैसे जानते हैं — ऐसी उनकी ज्ञान की अचिन्त्य सामर्थ्य है।

सर्वज्ञ की शक्ति के विषय में 'प्रवचनसार' में कहा है कि:—

'........अब, एक ज्ञायकभाव का सर्व ज्ञेयों को जानने का स्वभाव होने से, क्रम से प्रवर्तमान, अनन्त भूत-वर्तमान-भावी विचित्र पर्यायसमूहवाले, अगाधस्वभाव और गम्भीर ऐसे समस्त द्रव्यमात्र को-मानों कि वे द्रव्य, ज्ञायक में उत्कीर्ण हो गये हों, चित्रित हो गये हों, भीतर घुस गये हों, कीलित हो गये हों, डूब गये हो, प्रतिबिम्बित हो गयें हों — इस तरह एक क्षण में ही जो (शुद्ध आत्मा) प्रत्यक्ष करता है.... ।'
(गाथा-२०० की टीका)

'उन (जीवादि) द्रव्य जातियों की समस्त विद्यमान और अविद्यमान पर्यायें तात्कालिक (वर्तमान) पर्यायों की भाँति विशिष्टतापूर्वक (अपने-अपने भिन्न-भिन्न स्वरूप में) ज्ञान में वर्तती हैं।' **(गाथा-३७)**

'जो (पर्यायें) अभी तक भी उत्पन्न नहीं हुईं और जो उत्पन्न होकर नष्ट हो गईं

हैं, वे (पर्यायें) वास्तव में अविद्यमान होने पर भी, ज्ञान के प्रति नियत होने से (ज्ञान में निश्चित-स्थिर-लगी हुई होने से, ज्ञान में सीधी ज्ञात होने से) ज्ञानप्रत्यक्ष वर्तती हुई, पाषाणस्तम्भ में उत्कीर्ण भूत और भावी देवों (तीर्थङ्कर देवों) की भाँति, अपने स्वरूप को अकम्पतया (ज्ञान को) अर्पित करती हुई, (वे पर्यायें) विद्यमान ही हैं।'

(गाथा-३८ की टीका)

'इस प्रकार आत्मा की अद्भुत ज्ञानशक्ति और द्रव्यों की अद्भुत ज्ञेयत्वशक्ति के कारण, केवलज्ञान में समस्त जीवों की तीनों काल की पर्यायों का एक ही समय में भासित होना अविरुद्ध है।' ***(गाथा-३७ का भावार्थ)***

२. आत्मा, अनन्त सौख्यवान है, अर्थात् आत्मा के द्रव्यस्वभाव में अतीन्द्रिय अनन्त सुख है। ऐसा परिपूर्ण सुख, सर्वज्ञ भगवान को ही होता है, क्योंकि —

— घातिकर्मों के अभाव के कारण,

— परिणाम (परिणमन में) कोई उपाधि नहीं होने से, और

— केवलज्ञान, निष्कम्प-स्थिर-अनाकुल होने के कारण, केवलज्ञान सुखस्वरूप ही है। ***(प्रवचनसार गाथा ६० का भावार्थ है)***

यद्यपि आत्मा को संसार अवस्था में कर्म के साथ सम्बन्ध होने से, वह गुण, विभावरूप परिणमता है, वह वास्तविक सुखरूप नहीं परिणमता है, परन्तु जब आत्मा घातिकर्म से सर्वथा मुक्त होता है, अर्थात् स्वात्मोपलब्धि को प्राप्त करता है, तब उस गुण का पूर्ण विकास होने पर, आत्मा अनन्त सुखस्वभावरूप परिणमता है।

३. व्यवहारनय से यह जीव, नामकर्म से प्राप्त देहप्रमाण है परन्तु निश्चयनय से वह लोकाकाश प्रमाण असंख्यात प्रदेशी है। यद्यपि व्यवहारनय से उन प्रदेशों के सङ्कोच-विस्तारसहित है, तथापि सिद्ध अवस्था में सङ्कोच-विस्तार से रहित, शरीरप्रमाण उसका आकार है। ***(परमात्मप्रकाश २/४३, द्रव्यसंग्रह गाथा-१०)***

४. द्रव्यार्थिकनय से आत्मा टङ्कोत्कीर्ण ज्ञान के अखण्डस्वभाव से ध्रुव है, अविनाशी है परन्तु पर्यायार्थिकनय से वह उत्पाद-व्ययसहित है, अर्थात् प्रतिक्षण विनाशीक है।

यद्येवं, तस्योपास्तिः कथमिति?

अत्राह शिष्यः-यद्येवमात्मास्ति तस्योपास्तिः कथमिति स्पष्टम् आत्मसेवोपायप्रश्नोऽयम्। गुरुराह -

संयम्य करणग्राममेकाग्रत्वेन चेतसः।
आत्मानमात्मवान्ध्यायेदात्मनैवात्मनि स्थितम्॥ २२॥

ध्यायेत्-भावयेत् कोऽसौ ? आत्मवान् गुप्तेंद्रियमनाध्य-स्त ? स्वायत्तवृत्तिर्वा। कं ?

---

५. आत्मा, स्व-संवेदनगम्य है। 'अहं अस्मि' - 'मैं हूँ' — ऐसे अन्तर्मुखाकाररूप से जो ज्ञान अथवा अनुभव होता है, उससे आत्मा की सत्ता स्वतःसिद्ध होती है। ज्ञानीजन को अन्तर्बाह्यजल्प अथवा सङ्कल्पों का परित्याग करके, आत्मस्वरूप का आत्मा द्वारा आत्मा में ही जो अनुभव अथवा वेदन होता है, वह स्वसंवेदन है। इस स्वसंवेदन की अपेक्षा आत्मा प्रत्यक्ष है।

जहाँ आत्मा ही ज्ञेय और आत्मा ही ज्ञायक होता है, वहाँ चैतन्य की उस परिणति को स्वसंवेदन प्रमाण कहते हैं। उसको आत्मानुभव अथवा आत्मदर्शन भी कहते हैं।

यहाँ शिष्य कहता है कि — यदि आत्मा इस प्रकार का है तो उसकी उपासना किस प्रकार करनी चाहिए? यह प्रश्न आत्म-उपासना के उपाय का है — यह स्पष्ट है।

आचार्य कहते हैं :—

कर मन की एकाग्रता, इन्द्रिय-विषय मिटाय।
रुके वृत्ति स्वच्छन्दता, निज में निज को ध्याय॥ २२॥

अन्वयार्थ :- (**चेतसः**) (भाव) मन की (**एकाग्रत्वेन**) एकाग्रता से (**करणग्रामं**) इन्द्रियों के समूह को (**संयम्य**) वश करके, (**आत्मवान्**) आत्मवान् पुरुष को (**आत्मनि**) अपने में (आत्मा में) (**स्थितं**) स्थित (**आत्मानं**) आत्मा को, (**आत्मना एव**) आत्मा द्वारा ही (**ध्यायेत्**) ध्याना चाहिए।

टीका :- ध्याना चाहिए-भाना चाहिए। किसको? आत्मवान (पुरुष को),

आत्मानं यथोक्तस्वभावं पुरुषं। केन? आत्मनैव स्वसंवेदनरूपेण स्वेनैव तज्ज्ञप्तौ करणांतरा-भावात् उक्तं च (तत्त्वानुशासने) -

''स्वपरज्ञप्तिरूपत्वात् न तस्य करणांतरम्।
ततश्चिन्तां परित्यज्य स्वसंवित्यैव वेद्यताम्॥१६२॥''

क्व तिष्ठंतं इत्याह-आत्मनि स्थितं वस्तुतः सर्वभावानां स्वरूप मात्राधारत्वात्। किं कृत्वा? संयम्य-रूपादिभ्यो व्यावृत्य। किं? करणग्रामं चक्षुरादींद्रियगणं। केनोपायेन? एकाग्रत्वेन-एकं विवक्षितमात्मानं तं द्रव्यं पर्यायो वा अग्रं प्राधान्येनालंबनं विषयो यस्य (तत्) अथवा एकं पूर्वापरपर्यायाऽनुस्यूतं अग्रं आत्मग्राहयं यस्य तदेकाग्रं तद्भावेन।

अर्थात् जिसने इन्द्रियों और मन को रोक लिया है (संयम में रखा है।) अथवा जिसने इन्द्रियों और मन की स्वेच्छाचाररूप (स्वच्छन्दरूप) प्रवृत्ति का नाश कर दिया है — ऐसे आत्मा को। किसको (ध्याना चाहिए)? आत्मा को, अर्थात् जिसका स्वभाव पूर्व में (श्लोक २१ में) बताया है, वैसे पुरुष को (आत्मा को); किससे द्वारा? आत्मा द्वारा ही, अर्थात् स्वसंवेदनरूप अपने से ही (प्रत्यक्ष ज्ञान से ही) (ध्याना चाहिए), क्योंकि उस ज्ञप्ति में अन्य करण (साधन) का अभाव है। (स्वयं आत्मा ही ज्ञप्ति का साधन है।)

'तत्त्वानुशासन' श्लोक १६२ में कहा है कि — '**स्वपरज्ञप्ति....**'

'वह आत्मा, स्व-पर ज्ञप्तिरूप होने से (अर्थात्, वह स्वयं स्व को तथा पर को भी जानता होने से) उसको (उससे भिन्न) अन्य कारण का (साधन का) अभाव है; इसलिए चिन्ता को छोड़कर, स्वयंसवित्ति (अर्थात्, स्वसंवेदन) द्वारा ही उसको जानना चाहिए।'

(शिष्य ने) पूछा — कहाँ रहे हुए (आत्मा को)? आत्मा में स्थित (रहे हुए को), क्योंकि वस्तुतः (वास्तविक रीति से) सर्व पदार्थों को स्वरूपमात्र ही आधार है, (अर्थात्, सभी पदार्थ अपने-अपने स्वरूप में ही स्थित होते हैं)। क्या करके? रूपादि (विषयों) से रोककर (संयमित करके), अर्थात् वापस मोड़कर। किसको? इन्द्रियों के समूह को, अर्थात् चक्षु आदि इन्द्रियगण को। किस उपाय से? एकाग्रपने से, अर्थात् एक / विवक्षित आत्मा, वह द्रव्य व पर्याय-वह अग्र अर्थात् प्रधानरूप से अवलम्बनभूत विषय है जिसका-वह एकाग्र;

कस्य? चेतसः मनसः। अयमर्थः यत्र क्वचिदात्मन्येव वा श्रुतज्ञानावष्टंभात् आलंबितेन मनसा। इन्द्रियाणि निरुद्धय स्वात्मानं च भावयित्वा तत्रैकाग्रतामासाद्य चिंतां त्यक्त्वा स्वसंवेदतेनैवात्मानमनुभवेत्। उक्तं च -

> **''गहियं तं सुयणाणा पच्छा संवेयणेण भाविज्जा।**
> **जो ण हु सुयमवलंबइ सो मुज्झइ अप्पसब्भावो॥''**

तथा च (समाधितंत्रे)-

> **''प्रच्याव्य विषयेभ्योऽहं मां मयैव मयि स्थितं।**
> **बोधात्मानं प्रपन्नोऽस्मि परमानन्दनिर्वृतम्॥ ३२॥'**

एकाग्र का दूसरा अर्थ :—

एक, अर्थात् पूर्वापर पर्यायों में अनुस्यूतरूप से (अविछिन्नरूप से) प्रवर्तमान अग्र, अर्थात् आत्मा जिसका-वह एकाग्र-उसके भाव से, अर्थात् एकाग्रता से।

किसके? चित्त के-(भाव) मन के। उसका यह अर्थ है-जहाँ कहीं अथवा आत्मा में ही श्रुतज्ञान की सहायता से, मन के अवलम्बन द्वारा इन्द्रियों को रोककर तथा अपने आत्मा को भाकर, उसमें एकाग्रता प्राप्त करके, चिन्ता छोड़कर, स्वसंवेदन द्वारा ही आत्मा का अनुभव करना।

'अनागार धर्मामृत' (तृतीय अध्याय) में कहा है कि — **'गहियं तं......'**

'उसको (आत्मा को), श्रुतज्ञान द्वारा ग्रहण करके (जानकर के), संवेदन (स्वसंवेदन) द्वारा अनुभव करना। जो श्रुतज्ञान का अवलम्बन नहीं लेता, वह आत्मस्वभाव के विषय में गड़बड़ा जाता है।'

तथा समाधिशतक श्लोक ३२ में कहा है कि — **'प्रच्याव्य.....'**

'मैं, इन्द्रिय के विषयों से अपने को हटाकर, अपने में स्थित ज्ञानस्वरूप तथा परमानन्दमयी आत्मा को आत्मा द्वारा प्राप्त हुआ हूँ॥२२॥'

भावार्थ *:- प्रथम श्रुतज्ञान द्वारा आत्मा को जानना, पश्चात् आत्मा में एकाग्र होने से इन्द्रियों की बाह्य प्रवृत्ति स्वयं रुक जायेगी, अर्थात् उनकी स्वच्छन्दप्रवृत्ति का नाश होगा और उस एकाग्रता से चिन्ता का निरोध होकर, ध्यानावस्था में स्वसंवेदन द्वारा आत्मा का अनुभव होगा।*

आत्मोपासनया किमिति-अथाह शिष्यः-भगवन् आत्मोपास-नया आत्मसेवनया किं प्रयोजनं स्यात्? फलप्रतिपत्तिपूर्वकत्वात् प्रेक्षावत्प्रवृत्तेरिति पृष्टः सन् (गुरु) राचष्टे :-

अज्ञानोपास्तिरज्ञानं ज्ञानं ज्ञानिसमाश्रयः।
ददाति यत्तु यस्यास्ति सुप्रसिद्धमिदं वचः॥ २३॥

'जो ज्ञान, पाँच इन्द्रियों और छठें मन के द्वारा प्रवर्तता था, वह ज्ञान सब ओर से सिमटकर, निर्विकल्प अनुभव में केवल स्वरूपसन्मुख हुआ, क्योंकि वह ज्ञान क्षयोपशमरूप है, वह एक काल में एक ज्ञेय को ही जान सकता है। अब, वही ज्ञान, स्वरूप जानने को प्रवर्ता, तब अन्य को जानना सहज ही बन्द हुआ। वहाँ ऐसी दशा हुई कि बाह्य अनेक शब्दादि विकार होने पर भी, स्वरूपध्यानी को उसका कुछ पता नहीं। इस प्रकार मतिज्ञान भी स्वरूप सन्मुख हुआ। तथा नयादिक के विचार मिटने से श्रुतज्ञान भी स्वरूपसन्मुख हुआ.......इसलिए जो ज्ञान, इन्द्रियों और मन द्वारा प्रवर्तता था, वही ज्ञान, अब निज अनुभव में प्रवर्तता है, तथापि उस ज्ञान को अतीन्द्रिय कहते हैं।' ***(पण्डित टोडरमलजी-रहस्यपूर्ण चिट्ठी)***

आत्मा, स्व-पर प्रतिभासस्वरूप है, अर्थात् स्व-पर प्रकाशक है। वह स्वयं अपने को जानते हुए, पर जानने में आ जाते हैं; इसलिए उसको जानने के लिए अन्य कारणों (साधनों) की आवश्यकता नहीं रहती।

स्व-संवेदन में ज्ञप्तिक्रिया की निष्पत्ति के लिए अन्य कोई करण अथवा साधकतम हेतु नहीं है, क्योंकि आत्मा स्वयं स्व-पर ज्ञप्तिरूप है; इसलिए कारणान्तर की (अन्य कारण की) चिन्ता छोड़कर, स्व-ज्ञप्ति द्वारा ही आत्मा को जानना चाहिए।

फिर शिष्य पूछता है — भगवन्! आत्मा की उपासना का प्रयोजन क्या? अर्थात्, आत्मा की सेवा से क्या मतलब सिद्ध होता है क्योंकि विचारवानों की प्रवृत्ति तो फलज्ञानपूर्वक होती है।

इस प्रकार पूछे जाने पर आचार्य कहते हैं :—

जड़ से जड़ता ही मिले, ज्ञानी से निज ज्ञान।
जो कुछ जिसके पास वह, करे उसी का दान॥ २३॥

ददाति। कोऽसौ, अज्ञानस्य देहादेर्मूढभ्रांतिः (न्तेः) संदिग्धगुर्वादेर्वा उपास्तिः सेवा किं ? अज्ञानं, मोहभ्रमसन्देहलक्षणं तथा ददाति। कोऽसौ ? ज्ञानिनः स्वभावस्यात्मनो ज्ञानसंपन्न-गुर्वादेर्वा समाश्रयः। अनन्यपरतया सेवनं। किं ? ज्ञानं स्वार्थावबोधं। उक्तं च -

ज्ञानमेव फलं ज्ञाने ननु श्लाध्यमनश्वरम्।
अहो मोहस्य माहात्म्यमन्यदप्यत्र मृग्यते॥

कोऽत्र दृष्टांतः ? इत्याह-यद् इत्यादि ददाति इत्यत्रापि योज्यं।'तु अवधारेण' तेनायमर्थः

अन्वयार्थ :- **(अज्ञानोपास्तिः)** अज्ञान की, [अर्थात्, ज्ञानरहित शरीरादि की] उपासना [सेवा] **(अज्ञानं ददाति)** अज्ञान देती है, [अर्थात्, अज्ञान की उपासना से अज्ञान की प्राप्ति होती है], **(ज्ञानिसमाश्रयः)** और ज्ञानी-सेवा **(ज्ञानं ददाति)** ज्ञान देती है, [अर्थात्, ज्ञानी पुरुषों की सेवा से ज्ञान की प्राप्ति होती है]। **(यत् तु यस्य अस्ति तद् एव ददाति)** जिसके पास जो होता है, वही देता है, **(इदं सुप्रसिद्धं वचः)** यह सुप्रसिद्ध बात है।

टीका :- देती है। कौन वह? अज्ञान की उपासना, अर्थात् अज्ञान, यानी शरीरादि सम्बन्धी मिथ्याभ्रान्ति अथवा संदिग्ध (अज्ञानी) गुरु आदिक, उसकी उपासना-सेवा। क्या (देती है)? अज्ञान को, अर्थात् मोह-भ्रम-सन्देहलक्षणवाले अज्ञान को (मिथ्याज्ञान को); तथा देती है। कौन वह? ज्ञानी की, अर्थात् ज्ञानस्वभाव आत्मा की अथवा आत्मज्ञान सम्पन्न गुरु आदि की सेवा, अर्थात् अनन्यरूप से (तन्मयता से) सेवा। क्या (देती है)? ज्ञान, अर्थात् स्वार्थावबोधलक्षणवाला ज्ञान (देती है)।

श्री गुणभद्राचार्य ने 'आत्मानुशासन' श्लोक १७५ में कहा है कि — **'ज्ञानमेव...'**

ज्ञान का (ज्ञानी की उपासना का) फल, प्रशंसनीय अविनाशी सम्यग्ज्ञान ही है, यह निश्चय से जानो। अहो! यह मोह का ही माहात्म्य है कि (ज्ञान को छोड़कर) यहाँ भी, (अर्थात् इस उपासना में भी) दूसरा शोधता है।

शिष्य पूछता है — इस सम्बन्ध में क्या दृष्टान्त है?

आचार्य कहते हैं : — **'यत्तु यस्यास्ति तदेवं ददाति'** इसका अर्थ यह है कि जिसके पास जो हो, वही देता है, अर्थात् जिसके स्वाधीन (पास) जो है, वह

संपद्यते। यदेव यस्य स्वाधीनं विद्यते स सेव्यमानस्तदेव ददातीतिएतद्वाक्यं लोके सुप्रतीतमतो भद्र ज्ञानिनमुपास्य समुल्लंभितस्वपरविवेकज्योतिरजस्त्रमात्मान-मात्मनाऽऽत्मनि सेव्यश्च ॥२३॥

ज्ञानिनः किं? इति।

अत्राऽप्याह शिष्यः। ज्ञानिनः अध्यात्मस्थस्य किं भवती इति निष्पन्नयोग्यपेक्षया स्वात्मध्यानफलप्रश्नोऽयम्। गुरुराह -

परीषहाद्यविज्ञानादास्त्रवस्य निरोधिनी।
जायतेऽध्यात्मयोगेन कर्मणामाशु निर्जरा॥ २४॥

उसकी उपासना करने पर देता है। यह वाक्य लोक में सुप्रतीत है; इसलिए हे भद्र! ज्ञानी की उपासना करके प्रगट हुई है स्व-पर विवेकरूपी ज्योति जिसकी, ऐसे आत्मा को, आत्मा द्वारा आत्मा में ही निरन्तर सेव॥२३॥

भावार्थ :- *अज्ञानी की उपासना करने से अज्ञान की और ज्ञानी की उपासना करने से ज्ञान की प्राप्ति होती है, क्योंकि जिसके पास जो होता है, वही प्राप्त होता है। इसलिए जिसको स्व-पर विवेक की ज्योति प्रगट हुई है, उसको आत्मा की, आत्मा द्वारा आत्मा में ही निरन्तर उपासना करनी योग्य है।*

यहाँ फिर शिष्य कहता है — अध्यात्मलीन ज्ञानी को क्या होता है? (क्या फल मिलता है?) निष्पन्न (स्वात्मनिष्ठ) योगी की अपेक्षा से स्वात्मध्यान के फल का यह प्रश्न है।

आचार्य कहते हैं :—

निज में निज को चिन्तवे, टले परीषह लक्ष।
हो आस्त्रव अवरोध अरु, जागे निर्जर कक्ष॥ २४॥

अन्वयार्थ :- **(अध्यात्मयोगेन)** अध्यात्मयोग से (आत्मा में आत्मा के जुड़ान से) **(परीषहाद्यविज्ञानात्)** परीषहादि का (मनुष्य, तिर्यञ्च, देवादिकृत घोर उपसर्ग अथवा कष्ट आदि का) अनुभव (वेदन) नहीं होने से (उपसर्गादि की ओर लक्ष्य नहीं होने से), **(आस्त्रवस्य)** (कर्मों के) आस्त्रव को (आगमन को)

जायते भवति। कोऽसौ? निर्ज्जरा-एकदेशेन संक्षयो विश्लेषइत्यर्थः। केषां? कर्म्मणां सिद्धयोग्यपेक्षयाऽशुभानां शुभानां च साध्ययोग्यपेक्षया त्वसद्वेद्यादीनां कथं? आशु-सद्यः। केन? अध्यात्मयोगेन आत्मन्यात्मनः प्राणिधानेन, किं केवला? नेव इत्याह-निरोधिनी-प्रतिषेधयुक्ता कस्य? आस्त्रवस्य आगमन -स्य कर्मणामित्यत्रापि योज्यं कुत इत्याह (परिषहाद्यविज्ञानात्) परीषहाणां क्षुधादि दुःखभेदानां आदिशब्दाद्देवादिकृतोपसर्ग-बाधानां अविज्ञात् असंवेदनात्। तथा चोक्तम् -

'यस्य पुण्यं च पापं च निष्फलं गलति स्वयम्।
स योगी तस्य निर्वाणं न तस्य पुनरास्त्रवः'॥ २४६॥

(निरोधिनी) रोकनेवाली **(कर्मणां निर्जरा)** कर्मों की निर्जरा **(आशु)** शीघ्र **(जायते)** होती है।

टीका :- होती है। कौन वह? निर्जरा, अर्थात् (कर्मों का) एकदेश संक्षयविश्लेष अथवा सम्बन्ध छूटना वह, (खिर पड़ना वह) — ऐसा अर्थ है। किसकी (निर्जरा)? कर्मों की, सिद्धयोगी की अपेक्षा से (अर्थात्, जो सिद्धयोगी है, उसके तो) अशुभ तथा शुभकर्मों की निर्जरा और साध्ययोगी की अपेक्षा से असातावेदनीय आदि की निर्जरा होती है। किस प्रकार? शीघ्र-जल्दी। किस द्वारा? अध्यात्मयोग द्वारा, अर्थात् आत्मा में, आत्मा के ध्यान से। क्या केवल (निर्जरा होती है)? (गुरु ने) कहा — 'नहीं निरोधिनी शब्द प्रतिषेध (निषेध) बताता है।' किसका (प्रतिषेध)? आस्त्रव का-कर्मों के आगमन का — ऐसा यहाँ समझना। 'किससे'? परीषहों का, अर्थात् क्षुधा आदि दुःख के भेदोंरूप परीषहों का तथा 'आदि' शब्द से देवों आदि द्वारा किये गये उपसर्गों की बाधा का अनुभव (वेदन) नहीं होने से (बाधा की ओर उपयोग नहीं होने से) अथवा उनका संवेदन नहीं होने से (कर्मों के आगमन को-आस्त्रव को रोकनेरूप) पुराने कर्मों की निर्जरा के साथ में संवर भी होता है।

तथा 'आत्मानुशासन' श्लोक २४६ में कहा है — **'यस्य पुण्यं....'**

'जिसके पुण्य और पापकर्म, फल दिये बिना स्वयमेव (अपने आप ही) गल (खिर) जाते हैं, वह योगी है; उसका निर्वाण (मोक्ष) होता है और उसको फिर आस्त्रव नहीं होता।'

तथा च- (तत्त्वानुशासने) -

'तथाह्यचरमांगस्य ध्यानमभ्यस्तः सदा।'
निर्जरा संवरश्चास्य सकलाऽशुभकर्मणां॥ २२५॥

अपि च- (समाधितंत्रे)-

आत्मदेहांतरज्ञानजनिताह्लादनिर्वृतः।
तपसा दुष्कृतं घोरं भुंजानोऽपि न खिद्यते॥ ३४ ॥

सा खलु कर्म्मणो भवति तस्य सम्बन्धस्तदा कथमिति। (श्रुयतां)

एतच्च व्यवहारनयादुच्यते। कुत ? इत्याशंकायां पुनराचार्य एवाह। वत्स! आकर्णय खलु यस्मात् सा एकदेशेन विश्लेषलक्षणा निर्ज्जरा कर्मणः चित्समान्यानुविधायिपुद्गल-

---

(इस श्लोक में पुण्य और पापरूप कर्मों की निर्जरा बतायी है।)

तथा 'तत्त्वानुशासन' श्लोक २२५ में कहा है कि — **'तथाह्यचरमांगस्य....'**

'जो सदा ध्यान का अभ्यास करता है परन्तु अचरमशरीरी है (तद्भवमोक्षगामी नहीं है), उसके (उस ध्याता के) सकल अशुभकर्मों की निर्जरा और संवर होते हैं।'

(इस श्लोक में पापरूप कर्मों की ही निर्जरा और संवर बताया है)।

तथा श्री पूज्यपादस्वामी ने 'समाधितन्त्र' श्लोक ३४ में कहा है कि — **'आत्मदेहांत.....'**

'आत्मा और शरीर के भेदज्ञान से उत्पन्न हुए आनन्द से परिपूर्ण (युक्त) योगी, तपस्या द्वारा भयङ्कर उपसर्गों तथा घोर परीषहों को भोगता होने पर भी, खेद-खिन्न नहीं होता।'

यह व्यवहारनय से कहा गया है। किसलिए ? — ऐसी आशङ्का होने पर, पुनः आचार्य ही कहते हैं, वह (निर्जरा) वास्तव में कर्म की होती है।

तब उसका (कर्म का) सम्बन्ध किस प्रकार है ?

वत्स! सुन, वास्तव में वह (निर्जरा) एकदेश (कर्म का) विश्लेषलक्षणवाली (छूटनेरूप) कर्म की निर्जरा, चित्सामान्य को अनुविधायी (अनुसरते) पुद्गल

परिणामरूपस्य द्रव्यकर्मणः सम्बन्धिनी संभवति द्रव्ययोरेव संयोगपूर्वविभागसंभवत् तस्य द्रव्यकर्मणस्तदा योगिनः स्वरूपमात्रावस्थानकाले सम्बन्धः प्रत्यासत्तिरात्मना सह। कथं? केन संयोगादिप्रकारेण सम्भवति? इति सूक्ष्मेक्षिकया समीक्षस्व न कथमपि सम्भवतीत्यर्थः। यदा खल्वात्मैव ध्यानं ध्येयं च स्यात्तदा सर्वात्मनाप्यात्मनः परद्रव्याद् व्यावृत्य स्वरूपमात्रावस्थितत्वात् कथं द्रव्यांतरेण संबंधः स्यात्तस्य द्विष्ठत्वात्। न चैतत् संसारिणो न संभवतीति वाच्यं। संसारतीरप्राप्तस्यायोगिनो मुक्तात्मवत्पंचह्रस्वस्वरोच्चारणकालं यावत्तथावस्थानसंभवात् कर्मक्षपणाभिमुखस्य (तत्)-लक्षणोत्कृष्टशुक्ललेश्यासंस्कारावेशवशात्तावन्मात्रकर्म्मपारतन्त्रव्यवहरणात्।

तथाचोक्तम् परमागमे-

परिणामरूप द्रव्यकर्म सम्बन्धी होती है, क्योंकि दो द्रव्यों के संयोगपूर्वक (उनका) विभाग (पृथक् पड़ना) सम्भवता है।

जब योगी पुरुष, स्वरूपमात्र में अवस्थान कर रहा है, उस समय द्रव्यकर्म का आत्मा के साथ सम्बन्ध (प्रत्यासत्ति) किस प्रकार, किन संयोगादि प्रकार से सम्भव है — यह जरा सूक्ष्मदृष्टि से विचार कर, अर्थात् किसी प्रकार (सम्बन्ध) सम्भवित नहीं है — ऐसा अर्थ है।

जब वास्तव में आत्मा ही ध्यान और ध्येय हो जाता है, तब आत्मा सर्व प्रकार परद्रव्यों से व्यावृत्त हो, स्वरूपमात्र में अवस्थित होने से, अन्य द्रव्यों के साथ उसका सम्बन्ध किस प्रकार होगा? क्योंकि सम्बन्ध तो दो (द्रव्यों) के बीच में होता है (एक में नहीं होता)। ऐसी (अवस्था), संसारी जीव को सम्भवती नहीं है — ऐसा नहीं है — (अर्थात्, सम्भवती है) ऐसा वाच्य है, क्योंकि संसार के क्लेश को प्राप्त हुए अयोगी को, मुक्तात्मा की तरह पाँच ह्रस्व स्वर (अ, इ, उ, ऋ, लृ) बोलने में जितना काल लगता है, उतने काल तक वैसी (निर्बन्ध) अवस्था रहना सम्भावित है।

जिनके समस्त कर्म शीघ्र नाश होनेवाले हैं — ऐसे (चौदहवें गुणस्थानवर्ती) जीव को भी उत्कृष्ट शुक्ललेश्या के संस्कार के आवेशवश उतने समय तक (पाँच ह्रस्व स्वर बोलने में जितना समय लगे, वहाँ तक) कर्म परतन्त्रता का व्यवहार होता है; तथा परमागम में-गोम्मटसार जीवकाण्ड में कहा है कि — '**सीलेसिं.....**'

''सीलेसिं संपत्तो णिरुद्धणिस्सेसआसवो जीवो।
कम्मरयविप्पमुक्को गयजोगो केवली होदि॥''

'जो शीलों के (अठारह हजार शीलों के) भेदों के ईशत्व को (स्वामित्व को) प्राप्त हुए हैं, जिनके समस्त आस्रव रुक गये हैं तथा जो कर्मरूपी रज से रहित हो गये हैं, वे गतयोग (अयोग) केवली हैं॥२४॥'

भावार्थ *:- अध्यात्मयोग से आत्मा में, आत्मा का ही जुड़ाव करने से कर्मों की निर्जरा होती है। उन ध्यान करनेवाले जीवों के दो प्रकार हैं :—*

(१) सिद्धयोगी, अर्थात् जो उस भव से ही मुक्ति पाते हैं, और (२) अचरमशरीरी ध्यानाभ्यासी योगी, अर्थात् साध्ययोगी, जो उस भव से मुक्ति नहीं पाते, वे —

१. सिद्धयोगी, क्षयकश्रेणी माँडकर उसी भव से मोक्ष पाते हैं।

आठवें गुणस्थान से वह श्रेणी प्रारम्भ होती है। दसवें गुणस्थान तक उनको शुद्धोपयोग के साथ अबुद्धिपूर्वक शुभभाव होता है, उनको शुद्धोपयोग के कारण घातिकर्म की निर्जरा भी होती है और अबुद्धिपूर्वक के शुभभाव के कारण, उनको घातिकर्म का तथा अघाति की शुभकर्मप्रकृति का गुणस्थानानुसार बन्ध भी होता है।*

वीतरागता प्राप्त होने के पश्चात्, योग से मात्र सातावेदनीयकर्म का आस्रव होता है। उनको चौदहवें गुणस्थान में कर्मों का संवर परिपूर्ण होता है तथा सर्व कर्मों की निर्जरा चौदहवें गुणस्थान के अन्त में होती है। इस प्रकार सिद्धयोगी की दशा होती है।

२. साध्ययोगी — मुख्यरूप से सातवें गुणस्थानवर्ती मुनि, साध्ययोगी कहलाते हैं। जब वे निर्विकल्प स्वरूप में लीन होते हैं, तब जितने अंश में वीतरागता होती है, उतने अंश में घातिकर्म का बन्ध नहीं होता, परन्तु वहाँ अबुद्धिपूर्वक शुभभाव होने से उतने अंश में घातिकर्म का तथा सातावेदनीय आदि शुभकर्म का बन्ध होता है परन्तु असातावेदनीय आदि अशुभकर्म का बन्ध नहीं होता।

---

* मोह और योग के निमित्त से सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप आत्मा के गुणों की तारतम्यरूप अवस्थाविशेष को गुणस्थान कहते हैं। उनके चौदह भेद हैं — (१) मिथ्यात्व, (२) सासादन, (३) मिश्र, (४) अविरत सम्यग्दृष्टि, (५) देशविरत, (६) प्रमत्तविरत, (७) अप्रमत्तविरत, (८) अपूर्वकरण, (९) अनिवृत्तिकरण, (१०) सूक्ष्मसाम्पराय, (११) उपशान्तमोह, (१२) क्षीणमोह, (१३) सयोगकेवली, और (१४) अयोगीकेवली।

श्रूयतां चास्यैवाऽर्थस्य संग्रहश्लोकः -

कटस्य कर्त्ताहमिति सम्बन्धः स्याद् द्वयोर्द्वयोः।
ध्यानं ध्येयं यदात्मैव सम्बन्धः कीदृशस्तदा॥ २५॥

स्यात् भवेत्। कोऽसौ? सम्बन्धः द्रव्यादिना प्रत्यासत्तिः। कयोः? द्वयोर्द्वयोः कथंचिद्भिन्नयोः पदार्थयोः इति अनेन लोकप्रसिद्धेन प्रकारेण कथंमिति यथाहमस्मि। कीदृशः, कर्ता निर्माता। कस्य? कटस्य वंशदलानां जलादिप्रतिबंधाद्यर्थस्य परिणामस्य।

चौथे-पाँचवे गुणस्थान में भी धर्मी जीव किसी-किसी समय निर्विकल्प ध्यान में होता है और तब उसको कर्मों के संवर-बन्ध की व्यवस्था ऊपर कहे अनुसार होती है। मुख्यरूप से ४-५-६ वें गुणस्थान में सविकल्पदशा होती है।

इसी अर्थ को बतानेवाला संग्रह श्लोक सुन :—

'मैं कट का कर्ता' यही, करे द्वैत को सिद्ध।
ध्यान-ध्याता-ध्येय मैं, द्वैत सर्वदा अस्त॥ २५॥

अन्वयार्थ :- **(अहं)** मैं, **(कटस्य)** चटाई का **(कर्त्ता)** कर्ता हूँ **(इति)** इस प्रकार **(द्वयोः द्वयोः)** अलग-अलग दो पदार्थों के बीच **(संबंधः)** सम्बन्ध **(स्यात्)** हो सकता है। **(यदा)** जबकि **(आत्मा एव)** आत्मा ही **(ध्यानं ध्येयं)** ध्यान और ध्येयरूप हो जाए, **(तदा)** तब **(कीदृशः सम्बन्धः)** सम्बन्ध कैसा?

टीका :- हो सकता है। कौन वह? सम्बन्ध, अर्थात् द्रव्यादि के साथ प्रत्यासत्ति (निकट संयोग)। किन दोनों का (सम्बन्ध)? इस लोक प्रसिद्ध प्रकार द्वारा कथञ्चित् दोनों भिन्न पदार्थों का। किस प्रकार? जैसे कि 'मैं हूँ'; कैसा (मैं)? कर्ता, अर्थात् निर्माता (करनेवाला)। किसका (कर्ता)? चटाई का, अर्थात् बाँस की चीपों का, जलादि के संयोग से उत्पन्न होते पदार्थ के परिणाम का-इस प्रकार सम्बन्ध का द्विष्टपना (अर्थात्, दोनों में रहनेवाले सम्बन्ध को) बताकर, प्रकृति की भिन्नता कही। (अनादि से आत्मा और कर्म का संयोग सम्बन्ध है, परन्तु सम्बन्ध दोनों भिन्न पदार्थों के बीच हो सकता है; इसलिए प्रकृति (कर्म), आत्मा से भिन्न पदार्थ है — ऐसा कहा है।

एवं संबंधस्य द्विष्ठतां प्रदर्श्य प्रकृतेर्व्यतिरेकमाह। ध्यानमित्यादि ध्यायते येन ध्यायति वा यस्तद्धयानं ध्याति क्रियां प्रति करणं कर्ता वा।

उक्तं च; (तत्त्वानुशासने) —

'ध्यायते येन तद्धयानं यो ध्यायति स एव वा ६७॥ '

ध्यायत इति ध्येयं (तच्च) ध्यातिकिययाऽऽप्यं। यदा यस्मिन् आत्मनः परमात्मना सहैकीकरणकाले आत्मैव चिन्मात्रमेव स्यात् तदा कीदृशः (संयोगादिप्रकारः संबंधो द्रव्यकर्मणा सहात्मनः स्यात् येन जायते) अध्यात्मयोगेन कर्म्मणामाशु निर्ज्जरिति' परमार्थतः कथ्यते।

ध्यान इत्यादि — जिस द्वारा ध्याने में आवे, अर्थात् जो ध्यावे, वह ध्यान है अथवा ध्याति क्रिया में जो करण (साधन) होवे अथवा कर्ता होवे, उसको (सर्व को) ध्यान कहते हैं।

'तत्त्वानुशासन' श्लोक ६७ में कहा है कि — **'ध्यायते.....'**

जिसके द्वारा ध्यान किया जाता है, वह ध्यान अथवा जो ध्यान, ध्याता है, वही ध्यान है अथवा जो ध्याने में आता है, वह अथवा ध्याति को ध्यान कहते हैं।

जो ध्यान में आता है, वह ध्येय है अथवा ध्याति क्रिया से ध्येय समझना। जब आत्मा का, परमात्मा के साथ एकीकरण के काल में आत्मा ही चिन्मात्र हो जाए, तब द्रव्यकर्म के साथ आत्मा का संयोगादिरूप किस प्रकार का सम्बन्ध हो सकता है; जिससे 'अध्यात्मयोग से कर्मों की शीघ्र निर्जरा हो जाती है' — इस सम्बन्धी (श्लोक २४ में) परमार्थ से कहने में आया है?॥२५॥

***भावार्थ** :- चटाई और चटाई का कर्ता — दोनों एक-दूसरे से भिन्न हैं; इसलिए उन दोनों का संयोगसम्बन्ध बन सकता है, परन्तु ध्यान और ध्येयरूप अवस्था, आत्मा की अभिन्न होने से, उसका आत्मा के साथ तादात्म्यसम्बन्ध है; संयोग सम्बन्ध नहीं।*

जिस समय आत्मा, ध्यान अवस्था में परमात्मरूप के साथ एकमेक हो जाता है, उस समय ध्यान और ध्येय में अभिन्नता रहती है। उस समय चैतन्यरूप आत्मपिण्ड के अलावा, अन्य किसी परद्रव्य के सम्बन्ध का अभाव होने से, संयोगादिरूप कोई

तर्हि कथं बंधस्तत्प्रतिपक्षश्चमोक्ष इति?-अत्राह शिष्यः भगवन्! यदि आत्मकर्मद्रव्योयरध्यात्मयोगेन विश्लेषः क्रियते तर्हि कथं केनोपायप्रकारेण तयोः बंधः परस्परप्रदेशानुप्रवेशलक्षणः संश्लेषः स्यात्। तत्पूर्वकत्वात् विश्लेषस्य, कथं च तत्प्रतिपक्षो बंधविरोधी मोक्षः सकलकर्मविश्लेषलक्षणो जीवस्य स्यात् तस्यैवानंतर सुखहेतुत्वेन योगिभिः प्रार्थनीयत्वात्। गुरुराह -

***बध्यते मुच्यते जीवः सममो निर्ममः क्रमात्।**
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन निर्ममत्वं विचिंतयेत्॥२६॥

नया सम्बन्ध घटित नहीं होता, परन्तु उस अवस्था में कर्मादि का जो पुराना संयोग सम्बन्ध है, उसका भी निर्जरा द्वारा अभाव होता है।

श्लोक २४ में कहा है कि 'अध्यात्मयोग' से कर्मों की शीघ्र निर्जरा होती है, यह कथन पूर्वबद्ध कर्मों की अपेक्षा से है। जब आत्मा का परमात्मा के साथ एकीकरण हो जाता है, तब आत्मा ही चिन्मात्र हो जाता है, तो फिर आत्मा का द्रव्यकर्मों के साथ सम्बन्ध ही किस प्रकार होगा ? उत्कृष्ट अद्वैत ध्यानावस्था में नये कर्म का किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं, तो छूटना किसका (निर्जरा किसकी)? इसलिए सिद्धयोगी अथवा गतयोगी अथवा अयोगकेवली के कर्मों की निर्जरा कही है, वह पूर्वबद्ध कर्मों की होती है — ऐसा समझना। उनको कर्मों की निर्जरा होती है, यह कहना, वह व्यवहारनय से है; निश्चयनय से नहीं।

यहाँ शिष्य कहता है कि तब बन्ध और उसका प्रतिपक्षरूप मोक्ष किस प्रकार? भगवान! यदि अध्यात्मयोग से आत्मद्रव्य और द्रव्यकर्म को विश्लेष (एक-दूसरे से भिन्न) किया जावे तो किस प्रकार, अर्थात् किस तरह के उपाय द्वारा इन दोनों का बन्ध, अर्थात् परस्पर प्रदेशानुप्रवेश लक्षण संश्लेष (संयोगरूप बन्ध) हो? कारण कि इस पूर्वक (बन्धपूर्वक) ही विश्लेष (वियोग) होता है, और उसका प्रतिपक्षी, अर्थात् बन्ध-विरोधी मोक्ष, जो सम्पूर्ण कर्मों के विश्लेष (अभाव) लक्षणवाला है, वह जीव

* **परदव्वरओ बज्झदि विरओ मुच्चेइ विविहकम्मेहिं। एसो जिणउवदेसो समासदो बंधमुक्खस्स॥**

अर्थात्, जो जीव परद्रव्य में रत है, रागी है, वह तो अनेक प्रकार के कर्मों से बँधता है, कर्मों का बन्ध करता है और जो परद्रव्य से विरत है-रागी नहीं है वह अनेक प्रकार के कर्मों से छूटता है, यह बन्ध का और मोक्ष का संक्षेप में जिनदेव का उपदेश है। *(श्रीमोक्षपाहुड़, गाथा १३)*

मम इत्यव्ययं ममेदं इत्यभिनिवेशार्थं अव्ययानां तेन अनेकार्थत्वात् सममो ममेदं इत्यभि-निवेशाविष्टोऽहमस्येत्यभिनिवेशाविष्टश्चोपलक्षणत्वात् जीवः कर्मभिर्बध्यते। तथा चोक्तम् -

'न कर्मबहुलं जगन्न चलनात्मकं कर्म वा,
न चापि करणानि वा न चिदचिद्वधो बंधकृत्।'
यदैक्य-मुपयोगभूसमुपयाति-रागादिभिः।
स एव किल केवलं भवति बन्धहेतुर्नृणाम्॥

तथा स एव जीवो निर्ममस्तद्विपरीतस्तैर्मुच्यत इति यथा-

संख्येन योजनार्थं क्रमादित्युपात्तं।

को किस प्रकार हो सकता है? कारण कि अनन्त सुख का कारण होने से, वह योगियों द्वारा प्रार्थनीय है।

गुरु कहते हैं :—

मोही बाँधत कर्म को, निर्मोही छुट जाय।
यातें गाढ़ प्रयत्न से, निर्ममता उपजाय॥ २६॥

अन्वयार्थ :- (**सममः जीवः**) ममतावाला जीव और (**निर्ममः जीवः**) ममतारहित जीव (**क्रमात्**) अनुक्रम से (**बध्यते**) बँधता है और (**मुच्यते**) मुक्त होता है (बन्धन से छूटता है); (**तस्मात्**) इसलिए (**सर्वप्रयत्नेन**) सम्पूर्ण प्रयत्न से (**निर्ममत्वं**) निर्ममत्व का (**विचिन्तयेत्**) विशेषरूप से चिन्तन करना चाहिए।

टीका :- अव्ययों के अनेक अर्थ होते हैं, **मम** यह अव्यय है, उसका अर्थ अभिनिवेश होता है, इसलिए **समम,** अर्थात् **मम इदम्** — 'यह मेरा है' — ऐसे अभिनिवेशवाला (जीव) तथा उपलक्षण से **अहम अस्य** 'मैं इसका हूँ' — ऐसे अभिनिवेशवाला जीव, कर्मों से बँधता है।

(श्री अमृतचन्द्राचार्य ने श्री समयसार कलश, श्लोक १६४ में) कहा है कि — **'न कर्मबहुलं.....'**

'कर्मबन्ध करनेवाला कारण, नहीं बहुत कर्मयोग्य पुद्गलों से भरा लोक; नहीं चलनरूप कर्म (अर्थात्, मन-वचन-काय की क्रियारूप योग); नहीं अनेक प्रकार के करण (इन्द्रियाँ); और नहीं चेतन-अचेतन का घात। 'उपयोग भू', अर्थात् आत्मा,

उक्तं च —

'अकिञ्चनोहमित्यास्व त्रैलोक्याधिपतिर्भवेः।
योगिगम्यं तव प्रोक्तं रहस्यं परमात्मनः॥' (आत्मानुशासन)

अथवा - 'रागी बध्नाति कर्माणि वीतरागो विमुंचति।
जीवो जिनोपदेशोऽयं संक्षेपाद्बन्धमोक्षयोः॥' (ज्ञानार्णव)

यस्मादेवं तस्मात्सर्वप्रयत्नेन व्रताद्यवधानेन मनोवाक्काय-प्रणिधानेन वा निर्ममत्वं विचिन्तयेत्-

'मत्तः कायादयोऽभिन्नास्तेभ्योऽहमपि तत्त्वतः।
नाऽहमेषां किमप्यस्मि ममाप्येते न किञ्चन॥' (तत्त्वानुशासन-१५८)

इत्यादि श्रुतज्ञानभावनया मुमुक्षुर्विशेषेण भावयेत्।

रागादि के साथ जो एक्य पाता है, वही एक (मात्र रागादि के साथ एकत्व का पाना ही) वास्तव में पुरुष को बन्ध का कारण है।'

तथा वही जीव जो निर्मम, अर्थात् उससे विपरीत (अर्थात्, रागादि से रहित उपयोगवाला) होता है, तो वह कर्मों से छूट जाता है।

(अनुक्रम संख्या की योजना के लिए श्लोक में **क्रमात्** शब्द का प्रयोग किया है, जैसे कि **सममः, बध्यते, निर्ममः, मुच्यते**)।

(आत्मानुशासन, श्लोक ११० में) कहा है कि — **'अकिञ्चनो.....'**

मैं, अकिञ्चन हूँ (अर्थात्, मेरा कुछ भी नहीं है) — ऐसी भावना करके बैठे रहो (परिणमों) और तीन लोक के स्वामी बन जाओ। यह तुम्हें, योगियों को गम्य, (जाना जा सके, वैसा) — ऐसा परमात्मा का रहस्य बताया है।

अथवा (ज्ञानार्णव) में कहा है कि — **'रागी बध्नाति.....'**

रागी (जीव), कर्म बाँधता है और वीतरागी जीव (रागादि से रहित जीव), कर्मों से मुक्त होता है। बन्ध-मोक्ष सम्बन्धी जिनेन्द्र का यह संक्षेप में उपदेश है।

इसलिए सर्व प्रयत्न से व्रतादि में (शुद्ध परिणमन में) अवधान से (चित्त लगाकर) अथवा मन-वचन-काय की सावधानी से, निर्ममत्व का विशेष प्रकार से चिन्तवन करना चाहिए। (तत्त्वानुशासन में कहा है कि —)

उक्तं च - (आत्मानुशासने)

''निवृतिं भावयेद्यावन्निर्वृत्तिं तदभावतः।
न वृत्तिर्न निवृत्तिश्च तदेव पदमव्ययम्॥''

'मेरे से शरीरादि भिन्न हैं और परमार्थ से मैं भी उनसे भिन्न हूँ; मैं उनका कुछ भी नहीं और वे मेरे कुछ भी नहीं', इत्यादि श्रुतज्ञान की भावना, मुमुक्ष को विशेषरूप से भाना चाहिए।

(श्रीगुणभद्राचार्य ने आत्मानुशासन, श्लोक २३६ में) कहा है कि — **'निवृत्तिं....'**

जब तक मुक्ति न हो, तब तक (परभावों से) निवृत्ति की भावना करनी। उनके (परभाव के) अभाव में प्रवृत्ति और निवृत्ति ही नहीं रहेगी। वही अविनाशी पद है॥२६॥

भावार्थ : *- जब स्त्री-पुत्रादिक मेरे और मैं उनका — ऐसे ममकाररूप विभाव परिणामों से जीव परिणमता है, तब राग-द्वेषरूप परिणति के निमित्त से शुभाशुभकर्मों का बन्ध होता है, किन्तु जब स्त्री-पुत्रादिक पदार्थों में निजपने की कल्पना छोड़ देता है, तब निर्मम परिणामों से शुभाशुभकर्म का बन्ध नहीं होता; इसलिए निर्ममत्व का ही चिन्तवन करना चाहिए।*

जिस समय उपयोग विभावभावों से एकरूप होता है, उस समय राग-द्वेष के साथ एकताबुद्धि से परिणामरूप अध्यवसानभाव से बन्ध होता है। रागादि से एकतारूप उपयोग ही कर्मबन्ध का कारण है, परन्तु रागादि से एकतारहित उपयोग, बन्ध का कारण नहीं है; वह कर्ममुक्ति का कारण है।

जो पर को पर और आत्मा को आत्मा मानकर, रागी-द्वेषी नहीं होता और पर-पदार्थों में सुख-दुःख की कल्पना नहीं करता, अपितु उनके प्रति समभावी रहता है, वह कर्मों से छूटता है और परमात्मा बनता है।

रागी, कर्म से बँधता है और विरागी, कर्म से छूटता है — ऐसा जिनेन्द्र भगवान का बन्ध-मोक्ष का संक्षेप में उपदेश है। जब परद्रव्य मेरा नहीं — ऐसा परिणमन होता है, तब वह परम उदासीनतारूप परिणमता है और उसका फल, तीन लोक के जीव जिसको अपना स्वामी माने, वैसा पद वह प्राप्त करता है।

कथं नु तदिति ?-अथाह शिष्यः निर्ममत्वविचिंतनोपायप्रश्नोऽयं। अथ गुरुस्तत्प्रक्रियां मम विज्ञस्य का स्पृहेति यावदुपदिशति -

***एकोऽहं निर्ममः शुद्धो ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः।**
बाह्याः संयोगजा भावा मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा॥ २७॥

द्रव्यार्थिकनया (देशा) देकः पूर्वापरपर्यायानुस्यूतो निर्ममः-ममेदमहमस्येत्यभिनिवेशशून्यः शुद्धः शुद्धनयादेशादद्रव्यभाव-कर्मनिर्मुक्तो ज्ञानी स्व-पर-प्रकाशनस्वभावो

जब परभाव से रहित होकर मुक्त होता है, तब नहीं प्रवृत्ति अथवा नहीं निवृत्ति; केवल शुद्धस्वरूप ही है।

अब, शिष्य कहता है — वह (निर्ममत्व) किस प्रकार होता है ? निर्ममत्व का चिन्तवन करने के उपाय का यह प्रश्न है।

अब, गुरु उसकी (उपाय की) प्रक्रिया को **एकोऽहं...** श्लोक २७ से लेकर **मम विशस्य का स्पृहा...** श्लोक ३० तक के श्लोकों द्वारा उपदेश करते हैं :—

मैं इक निर्मम शुद्ध हूँ, ज्ञानी योगी गम्य।
संयोगज देहादि सब, मुझसे पूर्ण अगम्य॥ २७॥

अन्वयार्थ :- **(अहं)** मैं **(एकः)** एक, **(निर्ममः)** ममतारहित **(शुद्धः)** शुद्ध **(ज्ञानी)** ज्ञानी और **(योगीन्द्रगोचरः)** योगीन्द्रों द्वारा जाननेयोग्य हूँ, **(संयोगजाः)** संयोगजन्य **(सर्वेऽपि भावाः)** समस्त जो (देह-रागादिक) भाव हैं, वे **(मत्तः)** मुझसे **(सर्वथा)** सर्वथा **(बाह्याः)** भिन्न हैं।

टीका :- द्रव्यार्थिकनय से एक, अर्थात् पूर्वापर पर्यायों में अनुस्यूत (अन्वित); निर्मम, अर्थात् यह मेरा है — मैं इसका हूँ — ऐसे अभिनिवेश (मिथ्यामान्यता) से रहित; शुद्ध, अर्थात् शुद्धनय की अपेक्षा से द्रव्यकर्म-भावकर्म से रहित; ज्ञानी, अर्थात् स्व-परप्रकाशक स्वभाववाला; और योगीन्द्रगोचर, अर्थात् केवलियों को अनन्त पर्यायों

---

* **एको मे सासदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो। सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा॥**
अर्थात्, ज्ञानदर्शनलक्षणवाला शाश्वत एक आत्मा मेरा है; शेष सब संयोगलक्षणवाले भाव मुझसे बाह्य हैं।
(श्री नियमसार, गाथा-१०२)

योगीन्द्रगोचरो ऽनंतपर्यायविशिष्टतया केवलिनां शुद्धोपयोगमात्रमयत्वेन श्रुतकेवलिनां च संवेद्यः अहं आत्मा अस्मि ये तु संयोगजाः संयोगात् द्रव्यकर्मसम्बंधाज्जाता मया सह सम्बन्धं प्राप्ता भावाः देहादयोस्ते सर्वेऽपि मत्तः मत्सकाशात् सर्वथा सर्वेण द्रव्यादि-प्रकारेण बाह्या भिन्नः संति॥२७॥

संयोगात्किमिति संयोगात्-पुनर्भावुक एवं विमृशति देहादिभिः संबंधात् देहिनां किं फलं स्यादित्यर्थः।

तत्र स्वयमेव समाधत्ते -

दुःखसन्दोहभागित्वं संयोगादिह देहिनाम्।
त्यजाम्येनं ततः सर्वं मनोवाक्कायकर्मभिः॥ २८॥

की विशिष्टतासहित जाननेयोग्य (ज्ञेय) तथा श्रुतकेवलियों को शुद्धोपयोगपने के कारण संवेदनयोग्य मैं आत्मा हूँ।

संयोग से, अर्थात् द्रव्यकर्म के सम्बन्ध से जो देहादिक भावों का (पदार्थों का) मेरे साथ सम्बन्ध प्राप्त हुआ है, वह सब मुझसे सर्वथा द्रव्यादि प्रकार से (द्रव्य-क्षेत्र -काल-भाव से) बाह्य, अर्थात् भिन्न है॥२७॥

भावार्थ :- *द्रव्यस्वभाव से आत्मा, एक है; आत्मा, निर्मम है, अर्थात् 'यह मेरा है और मैं इसका हूँ' — ऐसे अभिनिवेश से (मिथ्या अभिप्राय से) शून्य है; आत्मा, शुद्ध है, अर्थात् द्रव्यकर्म-भावकर्म से रहित है; वह ज्ञानी, अर्थात् स्व-परप्रकाशक स्वभाववाला है; और जैसे वह केवली और श्रुतकेवलियों के ज्ञानगोचर है, वैसे ही सभी सम्यग्दृष्टियों को भी वह स्वसंवेदन ज्ञानगोचर है। कर्म सम्बन्धित शरीर, स्त्री, पुत्रादिक बाह्य संयोगी पदार्थ तथा विकारीभाव, आत्मा के चैतन्यस्वरूप से सर्वथा भिन्न हैं।*

फिर भावक (भावना करनेवाला) विचारता है कि संयोग के क्या (फल)? इसका अर्थ यह है कि देहादिक के सम्बन्ध से प्राणियों को क्या फल मिलता है?

उसी समय वह स्वयं ही समाधान करता है —

दुःख संदोह भागित्वं दुःखानां संदोहः समूहस्तद्भागित्वं देहिनां इह संसारे संयोगात् देहादिसंबंधाद्भवेत्। यतश्चैवं तत एनं संयोगं सर्वं निःशेषं त्यजामि। कैः क्रियमाणं? मनोवाक्कायकर्मभिः मनोवर्गणाद्यालम्बनैरात्मप्रदेशपरिस्पदैस्तैरेव त्यजामि। अयमभिप्रायो- मनोवाक्कायान्प्रति परिस्पन्दमानात्म-प्रदेशान् भावतो निरुणध्मिः। तद्भेदाऽभेदाभ्या- समूलत्वात्सुखदुःखैकफलनिवृत्तिसंसृत्योः

तथाचोक्तं (समाधितंत्रे) —

देहादिक संयोग से, होते दुःख संदोह।
मन वच तन सम्बन्ध को, मन वच तन से छोड़॥ २८॥

अन्वयार्थ :- **(इह)** इस संसार में **(संयोगात्)** देहादिक के सम्बन्ध से **(देहिनां)** प्राणियों को **(दुःख संदोहभागित्वं)** दुःख समूह भोगना पड़ता है, (अर्थात् अनन्त दुःख भोगना पड़ता है); **(ततः)** इसलिए **(एनं सर्वं)** उस समस्त (सम्बन्ध) को **(मनोवाक्कायकर्मभिः)** मन-वचन-काय की क्रिया से **(त्यजामि)** मैं तजता हूँ।

टीका :- दुःखों का सन्दोह (समूह), उसका भोक्तापना यहाँ, अर्थात् इस संसार में संयोग के कारण, अर्थात् देहादिक के सम्बन्ध के कारण होता है। (अर्थात्, देहादिक के सम्बन्ध के कारण प्राणियों को अनेक दुःख भोगने पड़ते हैं); इसलिए उन समस्त संयोगों को (उनके प्रति होनेवाले राग को) मैं सम्पूर्णरूप से छोड़ता हूँ। किस द्वारा करने में आते (सम्बन्ध को)? मन-वचन-काय की क्रिया से, मनोवर्गणादि के आलम्बन से आत्मप्रदेशों के परिस्पन्दन द्वारा (करने में आते सम्बन्ध को) ही मैं छोड़ता हूँ। इसका अभिप्राय यह है कि मैं मन-वचन-काय के प्रति (उनके आलम्बन से) परिस्पन्द होते आत्मा के प्रदेशों को मैं भाव से रोकता हूँ, क्योंकि सुख-दुःख जिसका एक फल है, वैसे मोक्ष-संसार का वैसा भेदाभेद का अभ्यास, मूल है (अर्थात्, आत्मा, मन-वचन-काय से भिन्न है — ऐसे भेद अभ्यास से सुखरूप मोक्ष की प्राप्ति होती है और आत्मा, मन-वचन-काय से अभिन्न है — ऐसे अभेद अभ्यास से दुःखरूप संसार की प्राप्ति होती है।)

तथा (समाधितन्त्र, श्लोक ६२ में) कहा है कि — '**स्वबुद्ध्या.....**'

'स्वबुद्धया यत्तु गृह्णीयात्कायवाक्चेतसां त्रयम्।
संसारस्तावदेतेषां तदाभ्यासेन निर्वृतिः॥ ६२॥'

पुद्गलेन किल संयोगस्तदपेक्षा मरणादयस्तद् व्यथाः कथं परिह्रियंत? इति-पुनः स एवं विस्मृशति पुद्गलेन देहात्मना मूर्तद्रव्येण सह किल आगमे श्रूयमाणः संयोगः जीवस्य संबंधोऽस्ति तदपेक्षाश्च पुद्गलसंयोगनिमित्त-(काः ?) जीवस्य मरणादयो मृत्युरोगादयः। तद्व्यथा मरणादि सम्बन्धिन्यो बाधाः सम्भवन्ति कथं? केन भावनाप्रकारेण मया परिह्रियंते। तदभिभवः कथं निवार्यत इत्यर्थः।

जब तक शरीर, वाणी और मन — इन तीनों को 'यह मेरे हैं' — ऐसी आत्मबुद्धि से जीव ग्रहण करता है, वहाँ तक संसार है और जब उनसे भेदबुद्धि का (अर्थात् 'आत्मा, शरीरादि से भिन्न है' — ऐसी भेदबुद्धि का) अभ्यास करता है, तब मुक्ति होती है॥२८॥

भावार्थ :- *देहादि के सम्बन्ध के कारण प्राणियों को संसार में अनेक प्रकार के दुःख भोगने पड़ते हैं; इसलिए जीव को उन देहादिक के साथ की एकताबुद्धि को सर्वथा छोड़ना चाहिए और स्वसन्मुख होकर ऐसे परिणाम करना चाहिए कि जिससे मन-वचन-काय का अवलम्बन छूटकर आत्मा, अविकारी हो और अन्ततः आत्मा के प्रदेशों का परिस्पन्दन भी रुक जाये।*

जब तक शरीर मन-वाणी में आत्मबुद्धि है, तब तक संसार की परम्परा चालू रहती है परन्तु मन-वचन-काय, आत्मा से भिन्न हैं — ऐसे भेदविज्ञान के अभ्यास से मुक्ति की प्राप्ति होती है।

तथा वह इस प्रकार विचारता है :—

पुद्गल (शरीरादि मूर्तद्रव्य) के साथ वास्तव में (जीव का) संयोग है। इसकी अपेक्षावाले मरणादि और उनके दुःख, किस प्रकार दूर किये जा सकते हैं? पुद्गल के साथ, अर्थात् शरीर के साथ-मूर्तद्रव्य के साथ जीव का सम्बन्ध, आगम में सुनने में आता है। उसके कारण, अर्थात् पुद्गल के संयोगनिमित्त से जीव को मरणादि, अर्थात् मरण-रोगादि सम्भवते हैं। उसको जैसे मरणादि सम्भवते हैं, वैसे मरणादि सम्बन्धी बाधाएँ (दुःख) भी सम्भवते हैं, तो किस प्रकार, किस तरह की भावना से

स्वयमेव समाधत्ते —

न मे मृत्युः कुतो भीतिर्न मे व्याधिः कुतो व्यथा।
नाहं बालो न वृद्धोऽहं न युवैतानि पुद्गले॥ २९॥

मे एकोहं इत्यादिना निश्चितात्मस्वरूपस्य (मम) मृत्युः प्राणत्यागः न नास्ति। चिच्छक्तिलक्षणभावप्राणानां कदाचिदपि त्यागाभावात् यतश्च मे मरणं नास्ति ततः कुतः कस्मात्मरण-कारणात्कृष्णसर्पादेर्भीतिर्भयं मम स्यात् न कुतश्चिदपि बिभेमीत्यर्थः। तथा व्याधिर्वातादिदोषवैषम्यं मम नास्ति मूर्त्त-सम्बन्धित्वाद्वातादीनां। यतश्चैवं ततः कस्मात् ज्वरादिविकारात् मम व्यथा स्यात् तथा (नाहं बालो न वृद्धोऽहं न युवा) बाला - द्यवस्थोऽहं नास्मि, ततः कथं बालाद्यवस्थाप्रभवैः दुखैरभिभूयेयं अहमिति सामर्थ्यादत्र

मुझे उन दुःखादि को परिहरना? अर्थात्, उनका आक्रमण किस प्रकार निवारण किया जा सके? ऐसा अर्थ है।

स्वयं ही उसका समाधान करता है :—

किसका भय जब अमर मैं, व्याधि बिना क्या पीड़?।
बाल-वृद्ध-यौवन नहीं, यह पुद्गल की भीड़॥ २९॥

अन्वयार्थ :- **(मे मृत्युः न)** मेरा मरण नहीं, तो **(कुतः भीतिः)** डर किसका? **(मे व्याधिः न)** मुझे व्याधि नहीं तो **(व्यथा कुतः)** पीड़ा कैसी? **(अहं न बालः)** मैं बालक नहीं, **(अहं न वृद्धः)** मैं वृद्ध नहीं, **(अहं न युवा)** मैं युवक नहीं, **(एतानि)** ये (सर्व अवस्थाएँ) **(पुद्गले सन्ति)** पुद्गल की हैं।

टीका :- **'एकोऽहं'** इत्यादि से जिसका आत्मस्वरूप निश्चित हुआ है — ऐसे मुझे मरण, अर्थात् प्राणत्याग नहीं है, कारण कि चित्शक्तिरूप भावप्राणों का कभी भी त्याग (नाश) नहीं होता, क्योंकि मेरा मरण नहीं है; इसलिए मरण के कारणभूत काला नाग आदि का भय-भीति मुझे कहाँ से हो? अर्थात्, मैं किसी से भयभीत नहीं — ऐसा अर्थ है। तथा व्याधि, अर्थात् वातादि दोष की विषमता मुझे नहीं है, क्योंकि वातादि का सम्बन्ध मूर्तपदार्थों के साथ है; इसलिए ज्वरादि विकारों से मुझे व्यथा-पीड़ा कैसे होगी? तथा मैं बालादि अवस्थाओंवाला नहीं; इसलिए बालादि अवस्थाओं

दृष्टव्यं। तर्हि क्व मृत्यु-प्रभृतीनि स्युरित्याह-एतानिमृत्युव्याधिबाल्यादीनि पुद्गले मूर्त्ते देहादावेव सम्भवन्ति मूर्तिधर्मत्वादमूर्ते मयि तेषां नितराम-संभवात्।

भूयोऽपि भावक एव स्वयमाशङ्कते —

से उत्पन्न होनेवाले दु:खों से मैं किस प्रकार घिरूँ ? (किस प्रकार दु:खी होऊँ?) — ऐसा सामर्थ्य से यहाँ समझना।

पूछता है कि तब मृत्यु आदि किसमें होती हैं? ये मृत्यु, व्याधि, बालादि (अवस्थाएँ) पुद्गल में, अर्थात् मूर्त शरीरादि में ही सम्भवती हैं, क्योंकि वे मूर्तपदार्थों का धर्म होने से, अमूर्त ऐसे मुझमें उनका होना बिल्कुल सम्भव नहीं है॥२९॥

भावार्थ :- *जिस जीव को अपने चिदानन्दस्वरूप का निश्चयहो गया है, उसको (सम्यग्दृष्टि को) द्रव्यप्राण के त्यागरूप मरण का भय नहीं होता, क्योंकि वह नि:शङ्क है कि शरीर का (पर्यायदृष्टि से) नाश होता है, परन्तु चित्शक्ति-लक्षणात्मक ज्ञान-दर्शनरूपभावप्राण का कभी भी नाश नहीं होता। उसको मरण का भय नहीं तो मरण के कारणभूत काले सर्पादिक का भय कहाँ से होगा? होगा ही नहीं।*

तथा उसको वात-पित्त-कफ की विषमता से (असमानता से) उत्पन्न होनेवाली व्याधियों का भय भी नहीं होता, क्योंकि वहजानता है कि उनका सम्बन्ध मूर्तपदार्थ (शरीरादि) के साथ है; आत्मा के साथ नहीं; इसलिए उसको ज्वरादि की पीड़ा कैसे हो? होती ही नहीं।

तथा बाल-वृद्धादि अवस्थाएँ पुद्गल की हैं; आत्मा की नहीं; इसलिए उन अवस्थाओं से उत्पन्न होनेवाले दु:खों का वेदन भी उसे कैसे हो? होता ही नहीं।

मृत्यु-व्याधि और बाल-वृद्धादि अवस्थाएँ पुद्गल-मूर्त शरीरादि में ही हो सकती हैं क्योंकि वे सब मूर्तिमान धर्म हैं; जीव तो अमूर्तिक-चेतन है, उसमें वे धर्म कभी भी नहीं हो सकते।

पुन: भावक ही (भावना करनेवाला ही) स्वयं आशङ्का करता है — तब प्राप्त करके छोड़ दी हुईं, वे (शरीरादि) वस्तुएँ पश्चातापकारी बनेंगी, अर्थात् यदि उक्त

तहर्येतान्यासाद्य मुक्तानि पश्चात्तापकारीणि भविष्यंति इति तन्नेति-यद्युक्तरीत्या भयादयो मे न भवेयुस्तर्हि एतानि देहादि वस्तूनि आसाद्य जन्मप्रभृत्यात्मात्मीयभावेन प्रतिपद्य मुक्तानि इदानीं भेदभावनावष्टंभान्मया त्यक्तानि। चिराभ्यस्ताभेदसंस्कार-वशात्पश्चात्तापकारीणि किमिति इमानि मयाऽऽत्मीयानि त्यक्तानीति अनुशयकारीणि मम भविष्यंति।

अत्र स्वयमेव प्रतिषेधमनुध्यायति तन्नेति यतः -

भुक्तोज्झिता मुहुर्मोहान्मया सर्वेऽपि पुद्गलाः।
उच्छिष्टेष्विव तेष्वद्य मम विज्ञस्य का स्पृहा ?॥ ३०॥

मोहात् अविद्यावेशवशात् अनादिकालं कर्मादिभावेनोपा-दाय, सर्वेऽपि पुद्गलाः मया

नीति अनुसार मुझे भयादि न हों तो इन देहादिक वस्तुओं को प्राप्त करके, अर्थात् जन्म से लेकर उन्हें आत्मीयभाव से स्वीकार कर, अब मैंने छोड़ दी, अर्थात् भेदभावना के बल से मैंने त्याग दीं तो वे देहादि वस्तुएँ, चिरकाल के अभ्यस्त अभेद (एकत्वबुद्धि के अभ्यास के) संस्कार के कारण क्या पश्चातापकारी बनेंगी? अर्थात्, अपनी मानी हुईं उन वस्तुओं को मैंने छोड़ दिया, इससे क्या वे (वस्तुएँ) मुझे पश्चातापजनक हो जायेंगी?

यहाँ भावक स्वयं ही प्रतिषेध का विचार करके कहता है — नहीं; ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि :—

पुनः पुनः भोगे सभी, पुद्गल मोहाधीन।
क्या चाहूँ उच्छिष्ट को, मैं ज्ञानी अक्षीण॥ ३०॥

अन्वयार्थ :- (**मोहात्**) मोह से (**सर्वेऽपि**) समस्त (**पुद्गलाः**) पुद्गल (**मुहुः**) बारम्बार (**मया भुक्तोज्झिता**) मैंने भोगे और छोड़ दिये, (**उच्छिष्टेषु इव तेषु**) उच्छिष्ट [वमन] जैसे पदार्थों में (**अद्य**) अब (**मम विज्ञस्य**) मेरे जैसे भेदज्ञानी को (**का स्पृहा**) क्या स्पृहा [चाहना] हो? अर्थात्, मुझे अब इन भोगों की इच्छा नहीं है।

टीका :- मोह से, अर्थात् अविद्या के आवेशवश अनादि काल से मुझ संसारी जीव ने सर्व पुद्गलों को कर्मादिभाव से ग्रहण करके बारम्बार पहले भोगा और फिर उनको नीरस करके छोड़ दिया। यदि ऐसा है तो स्वयं भोग करके छोड़ दी हुई उच्छिष्ट

संसारिणा जीवेन वारंवारं भुक्तोज्झिता पूर्वमनुभूताः पश्चाच्च नीरसीकृत्य त्यक्ता; यतश्चैवं तत उच्छिष्टेष्विव स्वयं भुक्त्वा त्यक्तेषु भोजनगंधमाल्यादिषु यथा लोकस्य तथा मम मे संप्रति विज्ञस्य तत्त्वज्ञानपरिणतस्य तेषु फेलाकल्पेषु पुद्‌गलेषु का स्पृहा? न काचिदपि। वत्स! त्वया मोक्षार्थिना निर्ममत्वं विचिंतनीयम्॥३०॥

अथ कथं ते निबध्यंत इति-अत्राह शिष्यः। अथेति प्रश्ने कथं केन प्रकारेण ते पुद्‌गला जीवेन नियतमुपादीयन्त

(वमन) के समान भोजन, गन्ध, मालादि में; जैसे, लोक को भोगकर छोड़ दिये हुए (पदार्थों में); स्पृहा (इच्छा) नहीं होती; इसी प्रकार अब तत्त्वज्ञान से परिणत विज्ञ (ज्ञानी), ऐसे मुझे उस उच्छिष्ट जैसे पुद्‌गलों में क्या स्पृहा होगी ? कदापि नहीं होगी। वत्स! तू मोक्षार्थी है तो तुझे निर्ममत्व की भावना विशेष करनी चाहिए। (इस प्रकार स्वयं को सम्बोधन करता है)॥३०॥

भावार्थ :- *ज्ञानी विचारता है कि जैसे कोई भोजनादि पदार्थों को स्वयं भोगकर छोड़ देता है और छोड़ दिये हुए उच्छिष्ट पदार्थों को फिर से भोगना नहीं चाहता; इसी तरह अविद्या के संस्कारवश अनादि काल के अनेक बार भोगकर छोड़ दिए हुए पदार्थों को, अब ज्ञानी होने से, मैं भोगना नहीं चाहता, अर्थात् अब मुझे उन भोगों के प्रति स्पृहा नहीं होती।*

यहाँ आचार्य ने 'मैंने सर्व पुद्‌गलों को बारम्बर भोगा और छोड़ दिया' — ऐसा जो कहा है, वह व्यवहारनय का कथन है, क्योंकि जो परद्रव्य है, वह न तो ग्रहण किया जा सकता है और न छोड़ा जा सकता है — ऐसा ही कोई उसका (आत्मा का) प्रायोगिक (परनिमित्त से हुआ) तथा वैस्रसिक (स्वाभाविक) गुण है।[1]

यहाँ शिष्य कहता है कि वे पुद्‌गल किस प्रकार बँधते हैं ? अर्थात्, जीव द्वारा पुद्‌गल हमेशा बन्ध को प्राप्त होते रहते हैं — किसलिए और किस प्रकार से?

गुरु कहते हैं :—

---

१. **जो द्रव्य है पर, ग्रहण नहिं, नहिं त्याग उसका हो सके।**
ऐसा हि उसका गुण कोई प्रायोगि अरु वैस्रसिक है॥ *(श्री समयसार, गाथा ४०६)*

इत्यर्थः गुरुराह —

कर्म कर्महिताऽऽबन्धि जीवो जीवहितस्पृहः।
स्व-स्वप्रभाव-भूयस्त्वे स्वार्थं को वा न वांछति॥ ३१॥

'कत्थवि बलिओ जीवो कत्थवि कम्माइ हुंति बलियाइं।
जीवस्स य कम्मस्स य पुव्वविरुद्धाइं वइराइं॥'

इत्यभिधानात् पूर्वोपार्जितं बलवत्कर्महिताऽऽबन्धि कर्मणः स्वस्यैव हितमाबध्नाति जीवस्यौदयिकादिभावमुद्भाव्य नवनवकर्माधायकत्वेन स्वसंतानं पुष्णातीत्यर्थः। तथाचोक्तं (पुरुषार्थसिद्ध्युपाये) —

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।

जीव, जीव का हित करे; कर्म, कर्म की वृद्धि।
निज-बल सत्ता सब चहें, को न चहे निज रिद्धि॥ ३१॥

अन्वयार्थ :- **(कर्मकर्महिताबन्धि)** कर्म, कर्म का हित चाहता है, **(जीवः जीवहितस्पृहः)** जीव, जीव का हित चाहता है। **(स्व-स्वप्रभाव भूयस्त्वे)** अपना -अपना प्रभाव बढ़ने पर, **(कः वा)** कौन **(स्वार्थं)** अपना स्वार्थ **(न वाञ्छति)** नहीं चाहेगा?

टीका :- **'कत्थवि.....वहराई।'**

किसी समय जीव बलवान होता है तो किसी समय कर्म बलवान होता है; इस प्रकार जीव और कर्म का पहले से (अनादि से) विरोध, अर्थात् वैर चला आया है।

इस कथनानुसार पूर्वोपार्जित बलवान कर्म (द्रव्यकर्म), कर्म का, अर्थात् अपना ही हित करता है, अर्थात् जीव में औदयिकादि भावों को उत्पन्न करके नये-नये द्रव्यकर्मों का ग्रहण करके अपने सन्तान को (प्रवाह को) पुष्ट करता है (चालू रखता है), ऐसा अर्थ है।

*** तथा पुरुषार्थसिद्धियुपाय में कहा कि — 'जीवकृतं......' तथा 'परिणममानस्य....'**

स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन॥ १२॥
परिणममानस्य चिदश्चिदात्मकैः स्वमपि स्वकैर्भावैः।
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि॥ १३॥

तथा जीवः कालादिलब्ध्या बलवानात्मा जीवहितस्पृहः जीवस्यैव हितमनंतसुख-हेतुत्वेनोपकारकं मोक्षमाकांक्षति। अत्र दृष्टान्तमाह स्वस्वप्रभावभूयस्त्वे निजनिजमाहात्म्य-बहुतरत्वे सति स्वार्थं स्वस्योपकारकं वस्तु को वा न वांछति? सर्वोप्यभिलषतीर्थः, ततो विद्धि कर्माविष्टो जीवः कर्मसंचिनोति इत्यर्थः ॥३१॥

जीवकृत परिणामों का निमित्तमात्र रूप पाकर, (जीव से भिन्न) अन्य पुद्गल स्वयं ही कर्मरूप परिणमते हैं। (गाथा १२)

नियम से अपने चेतनात्मक परिणामों से स्वयं ही परिणमते जीव को भी यह पौद्गलिककर्म, निमित्तमात्र होता है। (गाथा १३)

तथा कालादि लब्धि से बलवान होता हुआ आत्मा, जीव को अपने ही हितरूप तथा अनन्त सुख के कारणपने के कारण उपकारक - ऐसे मोक्ष की आकाँक्षा करता है।

यहाँ दृष्टान्त कहते हैं — **स्वस्वेत्यादि**

अपना-अपना माहात्म्य अधिकतर बढ़ने पर, अपने स्वार्थ को, अर्थात् अपने को उपकारक वस्तु को कौन नहीं चाहता? अर्थात्, सभी चाहते हैं — ऐसा अर्थ है।

इसलिए जान कि कर्माविष्ट (कर्म से बँधा हुआ) जीव, कर्मों का सञ्चय करता है (नये कर्म ग्रहण करता है) ॥३१॥

भावार्थ *:- अनादि काल से इस जीव को कर्म के साथ सम्बन्ध है। यदि जीव पूर्वसंचित कर्म के उदयकाल में अपने आत्मस्वरूप को भूलकर, कर्म के उदय में जुड़े, अर्थात् उसमें आत्मबुद्धि करे तो पुराने कर्म, नये कर्म के आस्रव में निमित्त*

---

१. जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पोग्गला परिणमंति।
पोग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदि॥८०॥
ण वि कुव्वदि कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हं पि॥८१॥ *(श्री समयसार)*

होते हैं। जब जीव, कर्मोदय से जुड़ता है, तब कर्म की बलजोरी है — ऐसा कहा जाता है परन्तु जब जीव, कर्मविपाक को एकताबुद्धि से नहीं भोगता, तब पुराने कर्म का उदय, नये कर्मबन्ध में निमित्त नहीं होता। उस समय यह कहा जाता है कि जीव के बलवान पुरुषार्थ के समक्ष, कर्म का कुछ (वश) नहीं चलता।

कर्म तो जड़ है, उसको तो सुख-दु:ख नहीं होने से हित-अहित नहीं होता, परन्तु जीव के हीनाधिक पुरुषार्थ की अपेक्षा से वह बलवान या बलहीन कहलाता है। जीव के वर्तमान पुरुषार्थ के आधार पर ही कर्म के बल का माप, व्यवहार से आँका जाता है। जब कर्म का सञ्चय होता है, तब कर्म अपना हित चाहता है — ऐसा कहा जाता है। वह जड़ होने से उसको चाहना या इच्छा नहीं होती। कर्म, कर्म का हित चाहता है, अर्थात् कर्माविष्ट जीव, कर्म का सञ्चय करता है — ऐसा टीकाकार के कथन का भाव (आशय-अभिप्राय) है।

जब जीव, स्वस्वरूप का भान करके, पर से हटकर, जैसे-जैसे स्वरूप सन्मुखता का पुरुषार्थ बढ़ाता जाता है; वैसे-वैसे उसका (जीव का) बल बढ़ता जाता है और कर्म का निमित्तपना टूटता जाता है। उस समय जीव की सबलता हुई और कर्म की निर्बलता हुई — ऐसा कहा जाता है।

जब जीव, स्वस्वरूप से च्युत होकर, पर की ओर का — कर्म-निमित्तादि की ओर का झुकाव करके, पर के साथ एकताबुद्धिरूप विपरीतपुरुषार्थ करता है, तब वह स्वयं कर्म के वश हो जाता है। उस समय जीव की निर्बलता और कर्म की उस काल में सबलता है — ऐसा कहा जाता है।[१]

पर के साथ एकताबुद्धि आदि होने पर, जीव को राग-द्वेषादि होते हैं; इन राग -द्वेषादि के निमित्त से स्वयं कर्मबन्ध होता है। इस प्रकार कर्म की संतति प्रवाहित रखने में जीव स्वयं ही अपराधी है; उसमें कर्म अथवा निमित्तों का कोई दोष नहीं है। कर्म का सबलपना या निर्बलपना कहना व्यवहार का कथन है।

१. चेतन जो निजभाव में, कर्ता आप स्वभाव।
वर्ते नहिं निज भान में, कर्ता कर्म प्रभाव॥ ७८॥ (- श्रीमद् राजचन्द, आत्मसिद्धि-७८)

यतश्चैवं ततः —

परोपकृतिमुत्सृज्य स्वोपकारपरो भव।
उपकुर्वन्परस्याज्ञो दृश्यमानस्य लोकवत्॥ ३२॥

परोपकारं परस्य कर्मणो देहादेर्वा अविद्यावशात् क्रियमाण-मुपकारं उत्सृज्य विद्याभ्यासेन त्यक्त्वा स्वोकारपरः आत्मानुग्रह-प्रधानो भव त्वम्। किं कुर्वन सन्? उपकुर्वन्! कस्य, परस्य सर्वथा स्वस्माद्बाह्यस्य दृश्यमानस्य इति इन्द्रियैरनुभूयमानस्य देहादेः। किं

अज्ञानी जीव के परिणाम को निमित्त करके, पुद्गल कर्मरूप परिणमते हैं और पुद्गलकर्म को निमित्त करके, अज्ञानी जीव भी परिणमता है; इस प्रकार जीव के परिणाम को और पुद्गल के परिणाम को परस्पर, मात्र निमित्त-नैमित्तिकभाव है, परन्तु परस्पर कर्ता-कर्मभाव नहीं है। ***(समयसार गाथा ८०-८२ की टीका)***

ऐसा है इसलिए :—

अतः प्रगट देहादिका, मूढ़ करत उपकार।
सज्जनवत् बन यह तज, जिय कर निज उपकार॥ ३२॥

अन्वयार्थ :- **(अज्ञः लोकवत्)** तू लोक के समान, मूढ़ होकर **(दृश्यमानस्य परस्य)** दिखने में आते (शरीरादि) परपदार्थों का **(उपकुर्वन्)** उपकार करता है, [अब] तू **(परोपकृतिं)** पर के उपकार की इच्छा **(उत्सृज्य)** छोड़कर **(स्वोपकारपरः भव)** अपने उपकार में तत्पर हो।

टीका :- अविद्या के वश पर का, अर्थात् कर्म अथवा शरीरादिक के किये जाते उपकार को, विद्या के (सम्यग्ज्ञान के) अभ्यास से त्याग करके, तू प्रधानरूप से अपना (आत्मा का) अनुग्रह (उपकार) करने में तत्पर हो। क्या करता हुआ (तू)? उपकार करता। किसका? पर का, अर्थात् सर्वथा अपने से बाह्य (भिन्न) दृष्टिगोचर तथा इन्द्रियों द्वारा अनुभव में आते हुए शरीरादि का (उपकार करता हुआ), क्योंकि (तू) कैसा है? तू अज्ञानी / तत्त्वों का अज्ञाता है। किसकी तरह? लोगों की तरह। जैसे (अज्ञानी) लोक, जब तक पर को पररूप नहीं जानता, तब तक उसका उपकार करता है परन्तु उसको तत्त्व से जानने के पश्चात् (अर्थात्, स्व को

विशिष्टः यतस्त्वं अज्ञस्तत्त्वानभिज्ञः किंवत् लोकवत्। यथा लोकः परं परत्वेनाऽजानंत्तस्योपकुर्वन्नपि तं तत्त्वेन ज्ञात्वा तदुपकारं त्यक्त्वा स्वोपकारपरो भवति एवं त्वमपि भव इत्यर्थः ॥३२॥

अथाह शिष्यः-कथं तयोर्विशेष इति-केनोपायेन तयो स्वपरयोः भेदः विशेषः विज्ञायते। तद्धि (द्वि) ज्ञातुश्च किं स्यादित्यर्थः।

स्व-रूप और पर को पररूप जानने के पश्चात्) उसका उपकार करना छोड़ देता है और अपना उपकार करने में तत्पर होता है; इसी तरह तू भी तत्पर हो। (अर्थात्, तू आत्मज्ञानी बनकर आत्मोपकार करने में तत्पर हो) — ऐसा अर्थ है ॥३२॥

भावार्थ *:- अज्ञान के कारण अज्ञानी जीव जब तक कर्म तथा शरीरादि को पररूप नहीं जानता, तब तक वह उनका भला करने की-उन पर उपकार करके की वृत्ति करता है परन्तु जब उसको भेदविज्ञान के बल से स्व-पर की भिन्नता भासित होती है, अर्थात् वह स्व को स्वरूप और पर को पररूप जानता है, तब उसको पर के प्रति उपकार करने का भाव छूट जाता है और वह स्वसन्मुख होकर अपने आत्मा का उपकार करने में उद्यमशील होता है।*

श्री पूज्यपादाचार्य ने समाधितन्त्र श्लोक ६१ में कहा है कि —

न जानन्ति शरीराणिं सुख-दुःखान्यबुद्धयः।
निग्रहानुग्रहधियं तथाप्यत्रैव कुर्वते॥

अर्थात्, *यह शरीर जड़ है। वह सुख-दुःख कुछ नहीं जानता, तथापि मूढ़दृष्टि -बहिरात्मा उनमें (शरीरादि में), निग्रह-अनुग्रहबुद्धि (अपकार-उपकारबुद्धि) करता है।*

यह जीव, वस्तुस्वरूप से अजान होने से, अपने आत्मा से सर्वथा भिन्न शरीरादि का कुछ नहीं कर सकता, तो भी अज्ञान से उनकी रक्षा करने आदिरूप उपकार करने के विकल्पों में लगा रहता है; इसलिए आचार्य का उसको उपदेश है कि अविद्या का त्याग करके, तत्त्वज्ञानी बन और पर-उपकार करने का विकल्प छोड़कर, शुद्धात्मा बननेरूप आत्मोपकार कर।

यहाँ शिष्य कहता है कि इन दोनों का भेद किस प्रकार ज्ञात होता है ? अर्थात्,

गुरुराह —

गुरुपदेशादभ्यासात्संवित्तेः स्व-परांतरं।
जानाति यः स जानाति मोक्षसौख्यं निरन्तरम्॥ ३३॥

यो जानाति। किं तत् स्वपरांतरं आत्मपरयोर्भेदं यः स्वात्मानं परस्माद्भिन्नं पश्यतीत्यर्थः। कुतः संवित्तेः लक्षणतः स्वलक्ष्यानुभवात्। एषोऽपि कुतः ? अभ्यासात्अभ्यासभावनातः। एषोऽपि कुतः ? गुरूपदेशात् धर्माचार्यस्यात्मनश्च सुदृढ़-स्व-पर-विवेकज्ञानोत्पादकवाक्यात् स तथान्यापोढस्वात्मानु-भविता मोक्षसौख्यं निरन्तरमविछिन्नमनुभवति। कर्मविविक्तानु-भाव्यविनाभावित्वात्तस्य।

स्व-पर का भेद किस उपाय से ज्ञात होता है ? उस भेद को जाननेवाले को क्या लाभ होता है ? — ऐसा अर्थ है।

आचार्य कहते हैं :—

गुरु उपदेशाभ्यास से, निज-पर भेदविज्ञान।
स्वसंवेदन बल करे, अनुभव मुक्ति महान॥ ३३॥

अन्वयार्थ *:-* (**यः**) जो (**गुरुपदेशात्**) गुरु के उपदेश से, (**अभ्यासात्**) अभ्यास द्वारा, (**संवित्तेः**) स्वसंवेदन से (**स्वपरान्तरं**) स्व-पर का भेद (**जानाति**) जानता है, (**सः**) वह (**निरन्तरं**) निरन्तर (**मोक्षसौख्यं**) मोक्ष का सुख (**जानाति**) अनुभवता है।

टीका *:-* जो जानता है। वह क्या ? स्व-पर का अन्तर, अर्थात् आत्मा और पर का भेद, अर्थात् जो अपने आत्मा को पर से भिन्न देखता है (जानता है) — ऐसा अर्थ है। किस कारण से ? संवित्ति से (स्वसंवेदन से), अर्थात् लक्षण से अपने लक्ष्य के (आत्मा के) अनुभव से। वह भी किस प्रकार ? अभ्यास से, अर्थात् अभ्यास की भावना से। वह (अभ्यास) भी गुरु के उपदेश से, अर्थात् धर्माचार्य के तथा आत्मा के सुदृढ़ स्व-पर का भेदज्ञान उत्पन्न करनेवाले वाक्य से (होता है)। वह उस प्रकार स्वात्मा को पर से भिन्न अनुभव करनेवाला निरन्तर, अर्थात् अविच्छिन्नरूप से मोक्षसुख

तथाचोक्तं (तत्वानुशासने) —

'तमेवानुभवंश्चायमैकाग्र्यं परमृच्छति।
तथात्माधीनमानंदमेति वाचामगोचरम् ॥१७० ॥' इत्यादि

अथ शिष्यः पृच्छति — कस्तत्र गुरुरिति-तत्र मोक्षसुखानुभव-विषये?

गुरुराह —

स्वस्मिन्सदाभिलाषित्वादभीष्टज्ञापकत्वतः।
स्वयं हित (तं) प्रयोक्तृत्वादात्मैव गुरुरात्मनः ॥ ३४॥

का अनुभव करता है क्योंकि वह (मोक्षसुख का) अनुभव, कर्मों से भिन्न आत्मा का अनुभव करनेवाले को अविनाभावीरूप से होता है; (अन्य को नहीं)।

तथा तत्त्वानुशासन, श्लोक १७० में कहा है कि — **'तमेवानुभवं......'**

उसका ही-आत्मा का ही अनुभव करते-करते यह आत्मा, उत्कृष्ट एकाग्रता को प्राप्त करता है और वाणी के अगोचर (वाणी से नहीं कहा जा सके, ऐसा) आत्माधीन आनन्द का अनुभव करता है॥३३॥

भावार्थ *:- जो गुरु, अर्थात् धर्माचार्य, उनके उपदेश और शास्त्राभ्यास के निमित्त से आत्मसंवेदन से स्व-पर के भेदविज्ञान का बारम्बार अभ्यास करता है, वह आत्मा को पर से भिन्न अनुभव करता है और मोक्षसुख का निरन्तर स्वाद लेता है क्योंकि मोक्षसुख का अनुभव, आत्मा को कर्मादि से भिन्न अनुभव करनेवाले को ही होता है; अन्य को नहीं।*

पर से भिन्न आत्मा का सतत अनुभव करनेवाले को ही आत्मस्वरूप में उत्कृष्ट स्थिरता / एकाग्रता प्राप्त होती है और वह वचनातीत अतीन्द्रिय आत्माधीन आनन्द का अनुभव करता है।

फिर शिष्य पूछता है कि इस सन्दर्भ में गुरु कौन है? अर्थात्, मोक्षसुख के अनुभव के विषय में कौन गुरु है?

गुरु कहते हैं :—

यः खलु शिष्यः सदा अभीक्ष्णं कल्याणमभिलषति तेन जिज्ञास्यमानं तदुपायं तं ज्ञापयति तत्र चाप्रवर्त्तमानं तं प्रवर्त्तयति स किल गुरुः प्रसिद्धः। एवं च सत्यात्मनः आत्मैव गुरुः स्यात्। कुत इत्याह-स्वयमात्मना स्वस्मिन-मोक्षसुखाभिलाषिण्यात्मनि सदाभिलाषित्वात् सत् प्रशस्तं मोक्षसुखं सदा-भिलाषितत्वात् इति वा पाठः सदा अभीक्ष्णमभिलषति मोक्षसुखं मे संपद्यतामित्याकांक्षती त्येवंभ्रमात्। तथा अभीष्ट ज्ञापकत्वतः, अभीष्टस्यात्मना जिज्ञास्यमानस्य मोक्षसुखोपाय-स्यात्मविषये ज्ञापकत्वात् एष मोक्षसुखोपायो

निज-हित अभिलाषी स्वयं, निज-हित ज्ञायक आप।
निज-हित प्रेरक है स्वयं, निज-गुरु आप अमाप॥ ३४॥

अन्वयार्थ :- **(आत्मा)** स्वयं **(स्वस्मिन्)** अपने में **(सदभिलाषित्वात्)** सत् की (कल्याण की या मोक्षसुख की) अभिलाषा करता होने से, **(अभीष्टज्ञायकत्वतः)** अभीष्ट को (अपने इच्छित मोक्षसुख के उपाय को) बताता होने से और **(हित प्रयोक्तृत्वात्)** अपने हित में (मोक्षसुख के उपाय में) अपने को जोड़ता होने से, **(आत्मा एव)** आत्मा ही **(आत्मनः)** आत्मा का **(गुरुः अस्ति)** गुरु है।

टीका :- जो शिष्य निरन्तर कल्याण की (मोक्षसुख की) अभिलाषा करता है और इसलिए उसके उपाय का जिज्ञासु है, उसको (आत्मा गुरु) वह उपाय बताता है और उस उपाय में नहीं प्रवर्तता, उसे उसमें प्रवर्ताता है। वह गुरु वास्तव में प्रसिद्ध है। ऐसा होने से, आत्मा का गुरु, आत्मा ही हो सकता है।

(शिष्य) पूछता है — किस प्रकार?

स्वयं (आत्मा), आत्मा से मोक्षसुख का अभिलाषी, आत्मा में सत्, अर्थात् प्रशस्त मोक्षसुख की निरन्तर अभिलाषा करता है, अर्थात् मुझे मोक्षसुख प्राप्त होओ — ऐसे भाव से आकाँक्षा करता है तथा अभीष्ट (इच्छित), अर्थात् आत्मा द्वारा जिज्ञासित मोक्षसुख के उपाय के जिज्ञासु आत्मा को आत्मविषय सम्बन्धी बतानेवाला होने से, अर्थात् यह मोक्षसुख का उपाय मुझे (आत्मा को) सेवन करने योग्य है — ऐसा बोध करता होने से तथा स्वयं मोक्षसुख के उपाय में स्व को (आत्मा को) प्रयुक्त करता (जोड़ता) होने से, इस सुदुर्लभ मोक्षसुख के उपाय में, हे दुरात्मन् आत्मा! तू स्वयं

मया सेव्य इति बोधकत्वात्। तथा स्वयं प्रयोक्तृत्वात् हितं मोक्षसुखोपाये स्वयं स्वस्य प्रयोक्तृत्वात्। अस्मिन् सुदुर्लभे मोक्षसुखोपाये दुरात्मन् आत्मन्! स्वयमद्यापि न प्रवृत्तः इति। तत्राप्रवर्तमानस्यात्मनः प्रवर्त्तकत्वात्॥३४॥

अथ शिष्यः साक्षेपमाह एवं नान्योपास्तिः प्राप्नोतीति-न चैव मेतदिति भगवन्नुक्तनी (री) त्या परस्परगुरुत्वे निश्चिते सति न धर्माचार्यादिसेवनं प्राप्नोति मुमुक्षुं इति। मुमुक्षुणा धर्माचार्यादिः सेव्यो न भवतीति भावः। न चैवमेतादिति वाच्यमपसिद्धांत प्रसंगादिति वदन्तं प्रत्याह —

आज तक नहीं प्रवर्तता — इस प्रकार वहाँ (उपाय में) अप्रवत्त आत्मा को प्रवर्तानेवाला होने से (आत्मा ही, आत्मा का गुरु है) ॥३४॥

भावार्थ :- *मोक्षसुख का अभिलाषी आत्मा, स्वयं आत्मा का गुरु है, क्योंकि —*

१. वह स्वयं ही अपना कल्याण चाहता है।

२. वह स्वयं अपने को मोक्ष के उपाय का बोध करता है, और

३. स्वयं अपने को मोक्षसुख के उपाय में जोड़ता है (लगाता है)।

श्री समाधितन्त्र, श्लोक ७५ में कहा है कि —

नयत्यान्मानमात्मैव जन्म निर्वाणमेव वा।
गुरुरात्मात्मनस्तस्मान्नान्योऽस्ति परमार्थतः॥७५॥

अर्थात्, *आत्मा ही आत्मा को जन्म-मरणरूप संसार में परिभ्रमण कराता है और आत्मा ही आत्मा को निर्वाण के प्रति ले जाता है; इसलिए निश्चय से आत्मा ही आत्मा का गुरु है; अन्य कोई गुरु नहीं है।*

यहाँ शिष्य आक्षेप करके कहता है — इस प्रकार अन्य की उपासना प्राप्त नहीं होती, अर्थात् हे भगवन्! उक्त नीति के अनुसार पर में गुरुपने[१] का अभाव होने पर, मुमुक्षु को धर्माचार्यादि की सेवा प्राप्त नहीं होती। मुमुक्षु, धर्माचार्यादि की सेवा करनेयोग्य नहीं रहते — ऐसा भाव है, परन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि ऐसा कहने में अपसिद्धान्त का प्रसङ्ग आता है — ऐसा कहनेवाले

१. ईडर सरस्वती भण्डार की हस्तलिखित प्रति में 'परस्पर गुरुत्वे निश्चिते' के बदले, 'गुरत्वे निरस्ते' शब्द है और वे योग्य लगते हैं, इसलिए यहाँ उस अनुसार अर्थ किया है।

नाऽज्ञो विज्ञत्वमायाति विज्ञो नाऽज्ञत्वमृच्छति।
निमित्तमात्रमन्यस्तु गतेर्धर्मास्तिकायवत्॥ ३५॥

भद्र! अज्ञः यः तत्त्वज्ञानोर्त्पत्ययोग्योऽभव्यादि सविज्ञत्वं तत्त्वज्ञत्वं धर्माचार्याद्युपदेश-सहस्त्रेणापि न गच्छति। तथा चोक्तम् —

'स्वाभाविकं हि निष्पत्तौ क्रिया गुणमपेक्ष्यते।
न व्यापारशतेनाऽपि शुकवत्पाठयते बकः॥

तथा विज्ञः तत्त्वज्ञानपरिणतः अज्ञत्वं तत्त्वज्ञानात्परिभ्रंशं न ऋच्छति अपाय सहस्त्रेणापि न गच्छति। तथाचोक्तम्-(पद्मनंदि पंचविंशतिकायां)

शिष्य के प्रति उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं :—

अज्ञ न पावे विज्ञता, नहीं विज्ञता अज्ञ।
पर तो मात्र निमित्त है, ज्यों गति में धर्मास्ति॥ ३५॥

अन्वयार्थ :- **(अज्ञः)** जो पुरुष अज्ञानी है (अर्थात्, तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति के लिए अयोग्य है, वह) **(विज्ञत्वं न आयाति)** विज्ञ नहीं हो सकता और **(विज्ञः)** जो विशेष ज्ञानी है, वह **(अज्ञत्वं न ऋच्छति)** अज्ञानी नहीं हो सकता। जैसे (जीव-पुद्गल की) **(गतेः)** गति में **(धर्मास्तिकायवत् निमित्तमात्रं)** धर्मास्तिकाय निमित्तमात्र है; उसी तरह **(अन्यः तु)** अन्य (पदार्थ) भी निमित्तमात्र (धर्मास्तिकायवत्) है।

टीका :- भद्र! अज्ञ, अर्थात् तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति के लिए अयोग्य अभव्यादि जीव, धर्माचार्यादि के हजारों उपदेश से भी विज्ञत्व को-तत्त्वज्ञान को प्राप्त नहीं कर सकता तथा कहा है कि — **'स्वाभाविकं......'**

(किसी कार्य की) उत्पत्ति में स्वाभाविकक्रिया और गुण की अपेक्षा रहती है। सैकड़ों व्यापारों से (प्रयत्नों से) भी बगुला, तोते की तरह पढ़ाया नहीं जा सकता।

इसी तरह विज्ञ, अर्थात् तत्त्वज्ञान से परिणत जीव, हजारों उपायों से भी अज्ञानपने को प्राप्त नहीं होता, अर्थात् तत्त्वज्ञान से परिभ्रष्ट नहीं होता।

'वज्रे पतत्यपि भयद्रुतविश्वलोके,
मुक्ताध्वनि प्रशमिनो न चलंति योगात्।
बोध-प्रदीप-हत-मोहमहांधकाराः,
सम्यग्दृशः किमुत शेषपरीषहेषु॥'

नन्वेवं बाह्यनिमित्तक्षेपः प्राप्नोतीत्यत्राह अन्यः पुनर्गुरूविपक्षादिः प्रकृतार्थसमुत्पाद-भ्रंशयोर्निमित्तमात्रं स्यात्तत्र योग्यताया एव साक्षात्साधकत्वात्। कस्याः को यथेत्यत्राह गते धर्माऽस्तिकाय कायवत इत्यादि। अयमर्थाः यथा युगपद्भाविगतिपरिणामोन्मुखानां भावानां स्वकीया गतिशक्तिरेव गतेः साक्षाज्जनिका तद्वैकल्ये तस्याः केनापि कर्त्तुमशक्यत्वात्।

तथा पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका में कहा है कि — **'वज्रे पतत्यपि.....'**

जिसके भय से घबराकर दुनिया के लोग मार्ग छोड़ दें, यहाँ-वहाँ भाग जाएँ — ऐसा वज्र पड़ने पर भी प्रशमभाव सम्पन्न योगीजन, योग से (ध्यान से) चलायमान नहीं होते तो जिन्होंने ज्ञानरूपी प्रदीप से मोहरूपी महान्धकार का नाश कर दिया है — ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव, शेष परीषहों के आने पर क्या चलायमान होंगे? (नहीं, वे कभी भी चलायमान नहीं होंगे।)

इस प्रकार तो बाह्य निमित्त उड़ जाएँगे (अर्थात्, उसका निराकरण हो जाएगा)! — ऐसा यहाँ कहते हैं।

अन्य, अर्थात् गुरु तथा शत्रु आदि प्रकृत कार्य की उत्पत्ति में तथा नाश में निमित्तमात्र हैं क्योंकि वहाँ योग्यता ही साक्षात् साधक है।

किसका कौन ? जैसे 'गतेरित्यादि'.... से यहाँ कहते हैं, वैसे।

इसका अर्थ यह है कि जैसे कि युगपत् (एक साथ) भावी गतिरूप परिणाम के लिए उन्मुख पदार्थों की अपनी गमनशक्ति ही गति को साक्षात् उत्पन्न करती है, उनके विकलपने में (अर्थात्, पदार्थों में गमन के प्रति उन्मुखता न हो, तब) उनमें किसी से (कुछ) करना अशक्य है (अर्थात्, उनमें कोई गति उत्पन्न नहीं कर सकता)। धर्मास्तिकाय तो गति-उपग्राहकरूप (गति में निमित्तरूप) द्रव्यविशेष है, वह उसको (गति को) सहकारी कारणमात्र है। इस प्रकार प्रकृत में भी (इस विषय में भी)

धर्मास्तिकायस्तु गत्युपग्राहक- द्रव्यविशेषस्तस्याः सहकारिकारणमात्रं स्यात्, एवं प्रकृतेऽपि, अतो व्यवहारादेव गुर्वादेः शुश्रूषा प्रतिपत्तव्या ॥३५॥

समझना; इसलिए व्यवहार से ही गुरु आदि की शुश्रूषा (सेवा) करनी योग्य है ॥३५॥

भावार्थ :- ज्ञानी अथवा अज्ञानी बनने की योग्यता अपनी आत्मा में ही है; *गुरु आदि तो बाह्य निमित्तमात्र हैं, वे किसी को ज्ञानी अथवा अज्ञानी नहीं बना सकते।*

पदार्थों में परिणमन के लिए जो उन्मुख योग्यता होती है, उसरूप ही कार्य सम्पन्न (निष्पन्न) होता है क्योंकि 'कारणानुविधायीनि कार्याणि' — कारण जैसे ही कार्य होते हैं; अन्य पदार्थ तो उसके परिणमन में निमित्तमात्र हैं। प्रत्येक पदार्थ की परिणमन उन्मुखता ही–क्षणिक उपादान ही कार्यरूप परिणमता है।

जीव और पुद्गल में गमन करने की स्वयं शक्ति है; इसलिए जिस समय वे अपनी क्रियावतीशक्ति से जिस प्रकार का परिणमन–उन्मुखता से गमन करते हैं, उस प्रकार से उस समय धर्मद्रव्य उनके गमन में निमित्तमात्र होता है। परिणाम के प्रति पदार्थों की उन्मुखता ही (उस समय की योग्यता ही) कार्य का साक्षात् उपादानकारण है।

गुरु, शिष्य को समझाते हैं — यह व्यवहारनय का–निमित्त का कथन है, अर्थात् शिष्य अपनी उपादानशक्ति से सीखे तो गुरु, निमित्तमात्र कहलाते हैं। यह कथन कार्य की उत्पत्ति के समय अनुकूल कौन–सा निमित्त था? — उसका ज्ञान कराकर, उस ओर का झुकाव छुड़ाने के लिए है — ऐसा समझना चाहिए।

*वस्तुतः कोई किसी को सिखा (समझा) नहीं सकता, क्योंकि यह सिद्धान्त है कि सर्व द्रव्य अपने–अपने स्वभाव से उत्पन्न होते हैं; अन्य द्रव्य से, अन्य द्रव्य के गुणों की (पर्याय की) उत्पत्ति नहीं की जा सकती।**

छहों द्रव्यों की अपनी विकारी अथवा अविकारी पर्यायों में सभी निमित्त

---

* को द्रव्य दूसरे द्रव्य में, उत्पाद नहिं गुण का करे।
इस हेतु से सब ही दरब, उत्पन्न आप स्वभाव से॥ (श्री समयसार, गाथा ३७२)

अभ्यासः कथमिति?-अथाह शिष्यः अभ्यासः कथ्यत इति क्वचित्पाठः अभ्यासप्रयोगोपायप्रश्नोऽयं। तत्राभ्यासः स्यात् भूयोभूयः प्रवृत्तिलक्षणत्वेन सुप्रसिद्धत्वात्। कथ्यते तस्य स्थाननियमादि-रूपेणोपदेशः क्रियत इत्यर्थः। एवं संवित्तिरिति। उच्यते इति संवित्तिरुच्यत इत्युतरपातनिकाया अपि व्याख्यानमेतत्पाठापेक्षया द्रष्टव्यम्। तथा च —

गुरोरेवैते वाक्ये व्याख्येये-शिष्यबोधार्थं गुरुराह —

अभवच्चित्तविक्षेप एकांते तत्त्वसंस्थितिः।
अभ्यस्येदभियोगेन योगी तत्त्वं निजात्मनः॥ ३६॥

धर्मास्तिकायवत् निमित्तमात्र हैं। प्रेरक और उदासीन निमित्त उनके भेद को प्रकाशित करते हैं परन्तु उपादान के प्रति तो वे सदा धर्मास्तिकायवत् उदासीन निमित्तमात्र हैं।

अब, शिष्य कहता है कि (आत्मस्वरूप का) अभ्यास किस प्रकार (किया जाए)? यह अभ्यास के प्रयोग के उपाय सम्बन्धी प्रश्न है।

(किसी जगह 'अभ्यास कथ्यते' — अभ्यास कहा जाता है — ऐसा पाठ है)

वहाँ (इस सन्दर्भ में) बारम्बार प्रवृत्ति लक्षणात्मक अभ्यास अच्छी तरह प्रसिद्ध है, उसके स्थान पर नियमादिरूप के अभ्यास सम्बन्धी उपदेश किया जाता है — ऐसा अर्थ है।

इस प्रकार संवित्ति (स्वसंवेदन) सम्बन्धी कहा जाता है — ऐसे पाठ की अपेक्षा से उत्तम पातनिका का भी व्याख्यान समझना। (अर्थात्, साथ-साथ संवित्ति का भी वर्णन समझना।)

गुरु को ही इन दोनों वाक्यों की व्याख्या करने योग्य है।

शिष्य के बोध के लिए गुरु कहते हैं :—

क्षोभरहित एकान्त में, तत्त्वज्ञान चित्त धाय।
सावधान हो संयमी, निज स्वरूप को भाय॥ ३६॥

अन्वयार्थ :- **(अभवत् चित्तविक्षेपः)** जिसके चित्त में क्षोभ नहीं है, (अर्थात् जिसके चित्त में राग-द्वेषादि विकारी परिणतिरूप क्षोभ-विक्षेप नहीं है) तथा

अभ्यस्येत् भावयेत् कोसौ, ? योगी संयमी। किं ? तत्त्वं याथात्म्यं। कस्य ? निजात्मनः। केन ? अभियोगेन आलस्य-निद्रादिनिरासेन ? क्व ? एकांते योग्यशून्यगृहादौ। किं विशिष्टः सन् ? अभवन्नजायमानश्चित्तस्य मनसो विक्षेपो रागादिसंक्षोभो यस्य सोऽयं इत्थंभूतः सन्। किंभूतो भूत्वा ? तथाभूतः इत्याह। तत्त्वसंस्थितः तत्त्वे हेये उपादेये च संस्थितः गुरुपदेशान्निश्चलधीः यदि वा तत्त्वेन साध्ये वस्तुनि सम्यक् स्थितो यथोक्त-कायोत्सर्गादिना व्यवस्थितः ॥३६॥

जो **(तत्त्व संस्थितिः)** तत्त्व में (आत्मस्वरूप में) भले प्रकार स्थित है — ऐसे **(योगी)** योगी को **(अभियोगेन)** सावधानीपूर्वक (अर्थात्, आलस, निद्रादि के परित्यागपूर्वक) **(एकान्ते)** एकान्त स्थान में **(निजात्मनः तत्त्वं)** अपने आत्मतत्त्व का **(अभ्यस्येत्)** अभ्यास करना।

टीका :- अभ्यास करना-भाना। वह किसको ? योगी को-संयमी को। क्या (अभ्यास करना) ? आत्मासम्बन्धी तत्त्व का। किसका ? निज आत्मा का (अपने स्वरूप का) किस द्वारा ? अभियोग द्वारा, अर्थात् आलस, निद्रादि के त्याग द्वारा। कहाँ (अभ्यास करना) ? एकान्त में, अर्थात् योग्य खाली गृहादि में। किस प्रकार का होकर ? जिसके चित्त में-मन में विक्षेप, अर्थात् रागादिरूप क्षोभ नहीं — ऐसा होकर। कहते हैं 'ऐसा' कैसा होकर ? तत्त्व में अच्छी तरह स्थित। तत्त्व, अर्थात् हेय-उपादेय तत्त्वों में गुरु के उपदेश से जिसकी बुद्धि निश्चल हो गयी है, वैसा होकर अथवा परमार्थरूप से साध्य वस्तु में सम्यक् प्रकार से स्थित, अर्थात् जैसे कहे गये हैं, वैसे कायोत्सर्गादि द्वारा व्यवस्थित होकर॥३६॥

भावार्थ *:- जहाँ तक चित्त, राग-द्वेषादि विकल्पों से विक्षिप्त रहता है-आकुलित रहता है, वहाँ तक आत्मस्वरूप का ध्यान नहीं हो सकता।*

समाधितन्त्र, श्लोक ३५ में कहा है कि —

रागद्वेषादिकल्लोलैरलोलं यन्मनोजलम्।
स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं तत् तत्त्वं नेतरो जनः॥

अर्थात्, *जिसका मनरूपी जल, राग-द्वेषादि तरङ्गों से चञ्चल (विक्षिप्त) नहीं*

संवित्तिरिति! उच्यते इति।

अभ्यासः कथमित्यनुवर्त्यं नायमर्थः ते संयम्यते। अथाह शिष्यः भगवन्! उक्तलक्षणासंवित्तिः प्रवर्तमाना कथं-केनोपायेन योगिनो विज्ञायते कथं च प्रतिक्षणं प्रकर्षमापद्यते? अत्राचार्यो वक्ति। धीमन् आकर्णय उच्यते वर्ण्यते तल्लिङ्गं तावन्मया इत्यर्थः —

होता, वही पुरुष, आत्मा के यथार्थ स्वरूप का अनुभव करता है; राग-द्वेषादि कल्लोलों से आकुलित चित्तवाला पुरुष, आत्मतत्त्व का अनुभव नहीं कर सकता।

इसलिए योगी को प्रथम, गुरु के उपदेश से हेय-उपादेय तत्त्वों में बुद्धि निश्चल करके, अपने चित्त को मोह-क्षोभरहित करना चाहिए, फिर कायोत्सर्गादि द्वारा व्यवस्थित होकर एकान्त में शून्य गृह में अथवा पर्वत की गुफा में, आलस तथा निद्रादि का त्याग करके, अपने आत्मा के यथार्थस्वरूप का अभ्यास करना चाहिए।

आचार्यदेव ने इस श्लोक में आत्मस्वरूप के अभ्यास के लिए निम्न तीन मुख्य उपाय सूचित किये हैं —

१. गुरु के उपदेश द्वारा हेय-उपादेय तत्त्वों में, अर्थात् स्व-पर के भेदविज्ञान में बुद्धि को स्थिर करना।

२. चित्त को मोह-क्षोभरहित करना, अर्थात् राग-द्वेषादि विकल्पों से विक्षिप्त नहीं करना।

३. प्रमाद का त्याग करके एकान्त में आत्मस्वरूप के अनुभव का अभ्यास करना।

अब, शिष्य कहता है — संवित्ति, अर्थात् अभ्यास किस तरह अनुवर्ताय (किया जाए)? यह अर्थ (भाव) संयमित नहीं कराता। (अर्थात्, इतने से पूरा नहीं होता)।

भगवान! उक्त लक्षणवाली संविति (आत्मानुभव) हो रहा है, वह योगी को किस उपाय से ज्ञात हो सकता है और प्रतिक्षण उसका प्रकर्ष बढ़ रहा है, वह भी किस प्रकार जाना जा सकता है?

यहाँ आचार्य कहते हैं कि 'हे धीमान्! सुन, मैं उसके चिह्न का वर्णन करता हूँ' — ऐसा अर्थ है।

यथा यथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्।
तथा तथा न रोचन्ते विषयाः सुलभा अपि॥ ३७॥

येन येन प्रकारेण संवित्तौ उत्तमं विशुद्धं आत्मस्वरूपं समायाति सांमुख्येनाऽऽगच्छति योगिनः तथा तथा (तेन तेन प्रकारेण) सुलभा अपि अनायास लभ्या विषया रम्येंद्रियार्था न रोचन्ते तत्त्वं भोग्यबुद्धिं नोत्पादयन्ति। महासुखलब्धावल्प-सुखकारणानां लोकेऽप्यनादरणीयत्वदर्शनात्। तथा चोक्तम् —

''शमसुखीशीलितमनसामशनपि द्वेषमेति किमु कामाः।
स्थलमपि दहति झषाणां किमङ्ग पुनरङ्गमङ्गारः॥ १॥''

ज्यों-ज्यों आतमतत्त्व में, अनुभव आता जाय।
त्यों-त्यों विषय सुलभ्य भी, ताको नहीं सुहाय॥ ३७॥

अन्वयार्थ :- **(यथा यथा)** जैसे-जैसे **(उत्तमं तत्त्वं)** उत्तम तत्त्व **(संवित्तौ)** अनुभव में **(समायाति)** आता है, **(तथा तथा)** वैसे-वैसे **(सुलभाः अपि विषयाः)** सुलभ विषय भी **(न रोचन्ते)** रुचते नहीं, रुचिकर नहीं लगते।

टीका :- जिस-जिस प्रकार से योगी की संवित्ति में (स्वानुभवरूप संवेदन में) शुद्धात्मा का स्वरूप आता है(-झलकता है)-सन्मुख होता है, वैसे-वैसे अनायास (सहज में) प्राप्त होते रम्य (रमणीक) इन्द्रिय विषय भी भोगबुद्धि को उत्पन्न नहीं कर सकते, (भोगनेयोग्य हैं — ऐसी बुद्धि-इच्छा उत्पन्न नहीं कर सकते) क्योंकि महासुख की प्राप्ति होने पर, अल्पसुख के कारणों के प्रति लोक में (दुनिया में) भी अनादर देखा जाता है। कहा है कि —

जिसका मन, शान्ति-सुख से सम्पन्न है, उन (महापुरुषों को) भोजन भी द्वेष उत्पन्न करता है (अर्थात्, उनको भोजन भी नहीं रुचता है, उसके प्रति उदासीन होते हैं), तो विषय-भोगों की तो बात ही क्या करना? (अर्थात्, उनको विषय-भोग रुचिकर नहीं लगते)। जब मछलियों के अङ्ग को जमीन ही जलाती है, तो अग्नि के अंगारे की तो बात ही क्या है? वह तो उन्हें जला ही देता है।

अतो विषयारुचिरेव योगिनः स्वात्मसंवित्तेर्गमिका तदभावे तदभावात् प्रकृष्यमाणायां च विषयारुचौ स्वात्मसंवित्तिः प्रकृष्यते। तद्यथा —

यथा यथा न रोचंते विषयाः सुलभा अपि।
तथा तथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्॥ ३८॥

इसलिए विषयों की अरुचि ही योगी की स्वात्मसंविति (स्वात्मानुभव) का ज्ञान कराती है।

उसके अभाव में, (अर्थात् स्वात्मसंविति के अभाव में) उसका (अर्थात्, विषयों के प्रति अरुचि का) अभाव होता है और विषयों के प्रति अरुचि बढ़ने पर, स्वात्म-संविति भी प्रकर्षता को प्राप्त होती है (वृद्धिङ्गत होती है)॥३७॥

भावार्थ :- *आत्मस्वरूप का भान होने पर, विषयों के प्रति भोग्यबुद्धि उत्पन्न नहीं होती। जैसे-जैसे योगी को स्वानुभवरूप स्वसंवेदन में आत्मा का आनन्द आता है, वैसे-वैसे सुलभ्य रम्य विषयों की ओर से भी उसका मन हटता जाता है, अर्थात् सुन्दर प्रतीत होनेवाले विषय भी उसको आकर्षित नहीं कर सकते। जिसको भोजन भी अच्छा नहीं लगता, उसको विषय-भोग कैसे रुचेंगे? क्योंकि आध्यात्मिक आनन्द के समक्ष, उसको विषय-भोग का आनन्द तुच्छ-नीरस लगता है। लोक में भी यह रीत है कि अधिक सुख का कारण प्राप्त होने पर, अल्प सुख के कारणों के प्रति लोगों को अनादर (अरुचि) होता है।*

इसलिए विषयों की अरुचि ही योगी की स्वात्मसंविति को प्रगट करती है।

वह इस प्रकार है :—

जब सुलभ्य भी विषय नहीं, लगें योगी को भव्य।
आता अनुभव में निकट, त्यों-त्यों उत्तम तत्त्व॥ ३८॥

अन्वयार्थ :- **(यथा यथा)** जैसे-जैसे **(सुलभाः अपि विषयाः)** सुलभ (सहज प्राप्त) इन्द्रिय-विषय भी **(न रोचन्ते)** नहीं रुचते, **(तथा तथा)** वैसे-वैसे **(संवित्तौ)** स्वात्म-संवेदन में **(उत्तमम् तत्त्वं)** उत्तम निजात्म-तत्त्व **(समायाति)** आता जाता है।

अत्रापि पूर्ववद् व्याख्यानम्। तथा

चोक्तम् (समयसार-कलशायां) —

'विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन,
स्वयमपि निभृतः सन्पश्य षण्मासमेकं।
हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो,
ननु किमनुपलब्धिर्भाति किंचोपलब्धि॥'

प्रकृष्यमाणायां च स्वात्मसंवित्तौ यानि चिह्नानि स्युस्तान्याकर्णय — यथा —

टीका :- यहाँ भी पूर्ववत् व्याख्यान समझाना।

तथा श्री समयसार, कलश ३४ में कहा है कि — **'विरम्......'**

हे भव्य! तुझे अन्य व्यर्थ कोलाहल करने से क्या लाभ है? तू उस कोलाहल से विरक्त हो और एक चैतन्यमात्र वस्तु को स्वयं से निश्चल लीन होकर देख; ऐसा छह माह अभ्यास कर और देख कि ऐसा करने से अपने हृदय सरोवर में जिसका तेज, प्रताप प्रकाश, पुद्गल से भिन्न है — ऐसे आत्मा की प्राप्ति होती है या नहीं होती ?॥३८॥

भावार्थ :- *विषयों की रुचि न होने से, वह आत्मा के विशुद्ध स्वरूप की प्राप्ति का कारण है। जैसे-जैसे इन्द्रिय-विषयों के प्रति विरक्ति (उदासीनता) बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे स्वात्म-संवेदन में-शुद्धात्मा के अनुभव में भी वृद्धि होती जाती है।*

इसलिए परपदार्थों सम्बन्धी समस्त सङ्कल्प-विकल्पों का त्याग करके, विषयों से मन व्यावृत्त करके एकान्त में स्वात्मा के अवलोकन का अभ्यास करना चाहिए; इससे थोड़े ही समय में शुद्धात्मस्वरूप की प्राप्ति होती ही होती है।

स्वात्मसंविति होने पर जो चिह्न होते हैं, वह सुन! जैसे कि :—

निशामयति निःशेषमिंद्रजालोपमं जगत्।
स्पृहयत्यात्मलाभाय गत्वाऽन्यत्राऽनुतप्यते॥ ३९॥

योगी इत्यंतदीपकत्वात्सर्वत्र योज्यः। स्वात्मसंवित्तिरसिको ध्याता (निःशेषं) चराचरं बहिर्वस्तुजातं अवश्योपेक्षणीयतया हानोपादानबुद्धिविषयत्वात् इन्द्रजालोपमं इन्द्रजालिकोप दर्शितसर्पहारादिपदार्थसार्थसदृशं निशामयति पश्यति। तथा आत्मलाभाय स्पृहयति, चिदानंदस्वरूपमात्मानं संवेदयितु-मिच्छति। तथा अन्यत्र स्वात्मव्यतिरिक्ते यत्र क्वापि वस्तुनि पूर्वसंस्कारादिवशात्मनोवाक्कायैगत्वा व्यापृत्य अनुतप्यते स्वयमेव आः कथं

इन्द्रजाल सम जग दिखे, करे आत्म-अभिलाष।
अन्य विकल्पों में करे, योगी पश्चाताप॥ ३९॥

अन्वयार्थ :- (योगी) **(निःशेषं जगत)** समस्त जगत को **(इन्द्रजालोपम्)** इन्द्रजाल के समान **(निशामयति)** समझता है (देखता है), **(आत्मलाभाय)** आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिए **(स्पृहयति)** स्पृहा (अभिलाषा) करता है और **(अन्यत्र गत्वा अनुतप्यते)** अन्यत्र (अन्य विषय में) लग जाए तो वह पश्चात्ताप करता है।

टीका :- 'योगी' शब्द अन्तदीपक होने से सर्वत्र जोड़ना (अर्थात्, **निशामयति, स्पृहयति** आदि क्रियापदों के साथ उसको कर्ता के रूप में जोड़ना)।

जिसको स्वसंवेदन में रस है — ऐसा ध्याता (योगी) चर (जंगम), अचर (स्थावर) रूप बाह्य वस्तुसमूह को, इन्द्रजालादिक द्वारा बताये गये सर्प, हारादि पदार्थ-समूह के समान देखता है क्योंकि अवश्य उपेक्षणीयपने के कारण, (वे वस्तुएँ) त्याग-ग्रहण (विषयक) बुद्धि का विषय हैं; तथा वह आत्मलाभ के लिए स्पृहा (इच्छा) करता है, अर्थात् चिदानन्दस्वरूप आत्मा का अनुभव करना चाहता है; तथा अन्यत्र, अर्थात् स्वात्मा को छोड़कर, अन्य किसी भी वस्तु में, पूर्व के संस्कारादिवश मन-वचन-काय से प्रवृत्ति करे तो वहाँ से हटकर (परांमुख होकर) स्वयं ही पश्चात्ताप करता है कि 'अरे! मुझसे अनात्मीन (आत्मा के अहितरूप) अनुष्ठान कैसे हुआ?' — ऐसा पश्चात्ताप करता है॥३९॥

मयेद मनात्मनीनमनुष्ठितं इति पश्चात्तापं करोति॥३९॥

तथा —

भावार्थ *:- जिसको स्वसंवेदन में रस है-आनन्द आता है, उसको जगत के स्थावर और जङ्गमरूप समस्त बाह्य पदार्थ तथा इन्द्रिय-विषय, इन्द्रजाल के समान निःसार और विनश्वर प्रतीत होते हैं। अब, उसको सांसारिक विषय-भोग की इच्छा नहीं होती, अपितु आत्मस्वरूप की ही प्राप्ति के लिए प्रबल भावना रहा करती है।*

उसकी वृत्ति आत्मस्वरूप को छोड़कर, अन्य पदार्थों की ओर नहीं जाती और कदाचित् पूर्व के संस्कारवश तथा अपनी अस्थिरता के कारण उनके प्रति मन-वचन-काय द्वारा प्रवृत्ति हो जाए तो वहाँ से तुरन्त पीछे हटकर अफसोस करता है कि 'अरे! अपने स्वरूप से च्युत होकर मैं आत्मा का अहित कर बैठा;' इस प्रकार वह पश्चात्ताप करता है और आत्मनिन्दा-गर्हादि करके अपनी शुद्धि करता है।

ज्ञानी, जगत के पदार्थों को ज्ञेय समझकर, आत्मस्वरूप में लीन रहता है — यह बात दर्शाते हुए आचार्यश्री अमितगति ने सुभाषित रत्नसन्दोह, श्लोक ३३५ में कहा है कि —

भवत्येषा लक्ष्मीः कतिपयदिनान्येव सुखदा
तरुणयस्तारुण्ये विदघति मनःप्रीतिमतुलां।
तडिल्लोलाभोगा वपुरविचलं व्याधि-कलितं,
बुधाः संचिन्त्येति प्रगुणमनसो ब्रह्मणि रताः॥

यह लक्ष्मी, थोड़े ही दिन सुखदायक प्रतीत होती है। तरुण स्त्रियाँ, युवा अवस्था में ही मन को अतुल आनन्द देती है; विषय-भोग, बिजली के समान चञ्चल हैं और शरीर, व्याधियों से ग्रसित रहता है — ऐसा विचारकर गुणवान ज्ञानी पुरुष, आत्मस्वरूप में ही रत (लीन) रहते हैं।

तथा :—

इच्छत्येकांतसंवासं निर्जनं जनिताऽदरः।
निजकार्यवशात्किञ्चिदुक्त्वा विस्मरति द्रुतम्॥ ४०॥

(एकान्त संवासं) एकांते स्वभावतो निर्जने गिरिगहन (गुहा) दौ संवासं गुर्वादिभिः सहाऽवस्थानं इच्छति अभिलषति। किं विशिष्टः सन ? जनितादरः जनमनोरंजनचमत्कारि-मंत्रादिप्रयोगवार्त्तानिवृतौ कृतप्रयत्नः। कस्मै ? निर्जनं जनाभावाय स्वार्थवशाल्लाभाऽलाभादि प्रश्नार्थं लोकमुपसर्प्यंतं निषेधमित्यर्थः। ध्यानाद्धि लोकचमत्कारिणः प्रत्ययः स्युः।

तथाचोक्तम् (तत्त्वानुशासने) —

योगी निर्जन वन बसे, चहे सदा एकान्त।
यदि प्रसंग-वश कुछ कहे, विस्मृत हो उपरान्त॥ ४०॥

अन्वयार्थ :- **(निर्जनं जनिताऽदरः)** निर्जनता के लिए जिसको आदर उत्पन्न हुआ है — ऐसा योगी **(एकान्तसंवासं इच्छति)** एकान्तवास को चाहता है और **(निजकार्यवशात्)** निज कार्यवश **(किंचित् उक्त्वा)** कुछ बोल गया हो तो वह **(द्रुतं)** जल्दी **(विस्मरति)** भूल जाता है।

टीका :- एकान्त में-स्वभाव से निर्जन ऐसे पर्वत, वनादि में संवास, अर्थात् गुरु आदि के साथ रहने की अभिलाषा करता है। कैसा होकर? जिसको (निर्जन स्थान के लिए आदर उत्पन्न हुआ है) तथा लोगों का मनोरंजन करनेवाली चमत्कारिक मन्त्र आदि के प्रयोग की बातों से निवृत्ति के लिए (प्रयोग की बातें बन्द करने के लिए) जिसने प्रयत्न किया है — ऐसा वह; किसके लिए (आदर) है? निर्जन स्थान के लिए, अर्थात् लोक के अभाव के लिए — स्वार्थवश लाभ-अलाभादि के प्रश्न पूछने के लिए समीप आते लोगों का निषेध करने के लिए (मना करने के लिए उसको निर्जन स्थान के प्रति आदर है) — ऐसा अर्थ है।

ध्यान से ही लोक-चमत्कारी अतिशय होते हैं, तथा —

तत्त्वानुशासन, श्लोक ८७ में कहा है कि — **'गुरुपदेशमासाद्य....'**

अर्थात्, गुरु का उपदेश प्राप्त करके, निरन्तर अभ्यास करनेवाला धारणा के

'गुरुपदेशमासाद्य समभ्यस्यन्ननारतम्।
धारणासौष्ठवाद् ध्यानप्रत्ययानपि पश्यति॥ ८७॥'

तथा निजकार्यवशात् स्वावश्यकरणीयभोजनादि पारतंत्र्यात् किञ्चित् अल्पं असमग्रं श्रावकादिकं प्रति अहो इति अहो इदमिति अहो इदं कुरु इत्यादि उक्त्वा भाषित्वा द्रुतं तत्क्षण एव विस्मरति। भगवन्! किमादिश्यते इति श्रावकादौ पृच्छति सति न किमप्युत्तरं ददाति॥४०॥

तथा —

सौष्ठव से (अपनी सम्यक् और सुदृढ़ अवधारणशक्ति के बल से) ध्यान के प्रत्यय (लोक चमत्कारी अतिशय) देखता है।

तथा अपने को अवश्य करनेयोग्य भोजनादिक की परतन्त्रता के कारण, कुछ-थोड़ा-सा श्रावकादि को कहता है, 'अहो! यह, अहो यह करो' — इत्यादि कहकर उसी क्षण वह भूल जाता है। भगवन्! क्या हुकम है? ऐसा श्रावकादि पूछते हैं तो भी वह कुछ उत्तर नहीं देते॥४०॥

भावार्थ :- *स्व-पर के भेदविज्ञान के अभ्यास के बल से ही आत्मा को स्वानुभव का वेदन होता है, तब वह लोकरंजनकारी मन्त्र-तन्त्र के प्रयोग की बातों से दूर रहने के लिए तथा लोग अपने स्वार्थ के लिए लाभालाभ के प्रश्न पूछकर उसे आत्मध्यान में विघ्न न करें, इसलिए वह आदरपूर्वक निर्जनस्थान में रहना चाहता है।*

उसको भोजनादिक की परतन्त्रता के कारण, निर्जनस्थान छोड़कर आहार के लिए श्रावकों की बस्ती में आना पड़े तो कार्यवशात् अल्प वचनालाप भी करता है, परन्तु जब आहार लेकर अपने स्थान में आता है और आत्मचिन्तन में लीन हो जाता है, तब उस वचनालाप सम्बन्धी सब विस्मृत हो जाता है। कोई पूछे तो भी वह कुछ उत्तर नहीं देता।

तथा :—

ब्रूवन्नपि हि न ब्रुते गच्छन्नपि न गच्छति।
स्थिरीकृतात्मतत्त्वस्तु पश्यन्नपि न पश्यति॥ ४१॥

स्थिरीकृतात्मतत्त्वः दृढप्रतीतिगोचरीकृतस्वरूपो योगी, संस्कारवशात् परोपरोधेन ब्रुवन्नपि धर्मादिकं भाषमाणोऽपि न केवलं योगेन तिष्ठति (इति) ह्यपि शब्दार्थः। न ब्रूते हि न भाषत एव। तत्राभिमुख्याभावात्।

उक्तं च (समाधितंत्रे) —

"आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरम्।
कुर्यादर्थवशात्किंचिद्वाक्कायाभ्यामतत्परः॥ ५०॥

देखत भी नहीं देखता, बोलत बोलत नाहिं।
दृढ़ प्रतीति आतममयी, चालत चालत नाहिं॥ ४१॥

अन्वयार्थ :- **(स्थिरीकृतात्मतत्त्वः)** जिसने आत्मतत्त्व के विषय में स्थिरता प्राप्त कर ली है, वह **(तु ब्रूवन् अपि न ब्रुते)** बोलता होने पर भी, नहीं बोलता, **(गच्छन् अपि न गच्छति)** चलता होने पर भी, नहीं चलता और **(पश्यन् अपि न पश्यति)** देखता होने पर भी, नहीं देखता।

टीका :- जिसने आत्मतत्त्व के विषय में स्थिरता प्राप्त कर ली है, अर्थात् जिसने आत्मस्वरूप को दृढ़ प्रतीति का विषय बनाया है — ऐसा योगी, संस्कारवश अथवा अन्य के उपदेश से (अनुरोध से) बोलता होने पर भी, अर्थात् धर्मादिक का व्याख्यान करता होने पर भी, वह योगसहित है, (योग में स्थित है) — ऐसा 'अपि' शब्द का अर्थ है परन्तु वह बोलता ही नहीं-भाषण करता ही नहीं, क्योंकि उसको (योगी को) बोलने के प्रति अभिमुखपने का अभाव है।

'समाधितन्त्र' श्लोक-५० में कहा है कि — '**आत्मज्ञानात्परं....**'

(अन्तरात्मा) आत्मज्ञान से भिन्न, अन्य कार्य को अपनी बुद्धि में चिरकाल (लम्बे काल) तक धारण नहीं करे। यदि वह प्रयोजनवशात् वचन-काय से कुछ भी करने का विकल्प करे तो वह अतत्पर होकर करे।

तथा गच्छन्नपि न गच्छति भोजनार्थं व्रजन्नपि न व्रजत्येव। तथा पश्यन्नपि न पश्यति सिद्धप्रतिमादिकमवलोकयन्नपि नाऽवलोकयत्येव। तु रेवार्थः।

तथा —

किमिदं कीदृशं कस्य कस्मात्क्वेत्यविशेषयन्।
स्वदेहमपि नाऽवैति योगी योगपरायणः॥ ४२॥

तथा (योगी), भोजन के लिए जाता होने पर भी, नहीं जाता और सिद्ध प्रतिमादि को देखता होने पर भी, देखता ही नहीं, यही इसका अर्थ है॥४१॥

भावार्थ *:- जिस योगी ने आत्मस्वरूप को अपनी दृढ़ प्रतीति का विषय बनाया है, अर्थात् आत्मस्वरूप के विषय में स्थिरता प्राप्त कर ली है, उसको संस्कारवश अथवा अन्य के अनुरोध से कुछ बोलना पड़े अथवा धार्मिक उपदेश देना पड़े, तथापि उस कार्य में उसकी बुद्धिपूर्वक प्रवृत्ति नहीं होने से, वह उपदेश देता होने पर भी, उपदेश नहीं देता।*

ज्ञानी को कार्यवशात् किसी कार्य में प्रवृत्ति करनी पड़े तो कार्य के समय भी वह अपने ज्ञानस्वरूपी आत्मा को नहीं चूकता होने से, उसको उस कार्य के प्रति बुद्धिपूर्वक झुकाव (अभिमुखता) नहीं होता; इसलिए वह बाह्य में कार्य करता ज्ञात होने पर भी, वास्तव में वह कार्य नहीं करता। ज्ञानी की समस्त क्रियाएँ राग के स्वामित्वरहित होती हैं; इसलिए उसकी सभी बाह्यक्रियाएँ नहीं करने के समान हैं।

तथा :—

क्या कैसा किसका क्यों कहाँ?, आदि विकल्प विहीन।
तन को भी नहीं जानते, योगी अन्तर्लीन॥ ४२॥

अन्वयार्थ :- **(योगपरायणः)** योगपरायण (ध्यान में लीन) **(योगी)** योगी, **(किं इदं)** यह क्या है ? **(कीदृशं)** कैसा है **?** **(कस्य)** किसका है ? **(कस्मात्)** क्यों है ? **(क्व)** कहाँ है ? **(इति अविशेषयन्)** इत्यादि भेदरूप विकल्प नहीं करता हुआ **(स्वदेहम् अपि)** अपने शरीर को भी **(न अवैति)** नहीं जानता, (उसको अपने शरीर का भी ख्याल नहीं रहता)।

इदं अध्यात्मं अनुभूयमानं तत्त्वं किं किं रूपं कीदृशं केन सदृशं कस्य स्वामिकं कस्मात् कस्य सकाशात् क्व कस्मिन्नस्ति इति अविशेषयन् अविकल्पयन्सन् योगपरायणः समरसीभाव-मापन्नो योगी स्वदेहमपि न अवैति न चेतयति का कथा हिताहितदेहातिरिक्त चेतनायाः।

तथा चोक्तम् (तत्त्वानुशासने) —

'तदा च परमैकाग्रयाद्बहिरर्थेषु सत्स्वपि।
अन्यन्न किञ्चिनाऽऽभाति स्वमेवाऽऽत्मनि पश्यतः॥ १७२॥'

टीका :- यह अनुभव में आता आध्यात्मिक तत्त्व (अन्त-स्तत्त्व) क्या है? कैसे स्वरूपवाला है? कैसा है? किसके सदृश है? उसका स्वामी कौन है? किससे है? कहाँ है? — इत्यादि भेद नहीं करता, अर्थात् विकल्प नहीं करता। योगपरायण, अर्थात् समरसीभाव को प्राप्त हुआ योगी, अपने शरीर का भी ख्याल नहीं करता तो शरीर से भिन्न हितकारी अथवा अहितकारी वस्तुओं की चिन्ता करने की तो बात ही क्या है?

तथा (तत्त्वानुशासन, श्लोक १७२ में) कहा है कि — **'तदा च.....'**

उस समय (समाधिकाल में) आत्मा में आत्मा को ही देखनेवाले योगी को, बाह्य में पदार्थ होने पर भी, परम एकाग्रता के कारण, (आत्मा के सिवाय) अन्य कुछ भी भासित नहीं होता (मालूम नहीं पड़ता)॥४२॥

भावार्थ :- *जब योगी, ध्यान में लीन होता है, तब वह समरसीभाव का अनुभव करता है, अर्थात् निजानन्दरस का पान करता है। आत्मस्वरूप के अनुभवकाल में वह, आत्मद्रव्य सम्बन्धी वह क्या है? कैसा है? कहाँ है? इत्यादि सङ्कल्प-विकल्पों से रहित होता है। उस निर्विकल्पदशा में उसको अपने शरीर की ओर भी उपयोग नहीं जाता, तो शरीर से भिन्न अन्य पदार्थों की तो बात ही क्या करनी? अर्थात्, बाह्यपदार्थ होने पर भी परम एकाग्रता के कारण, उनका उसे कुछ भी अनुभव नहीं होता।*

योगी जब भेदविज्ञान द्वारा शरीरादि से ममत्व हटाकर, आत्मस्वरूप में स्थिर होकर आनन्दमग्न होता है, तब क्षुधा-तृषादि से अथवा उपसर्ग-परीषहादि से खेद-खिन्न नहीं होता।

कथमेतदिति ? अत्राह शिष्यः-निबोध भगवन्! विस्मयो मे कथमेतत् अवस्थान्तरं संभवति इति गुरुराह-धीमान्! निबोध —

यो यत्र निवसन्नास्ते स तत्र कुरुते रतिं।
यो यत्र रमते तस्मादन्यत्र स न गच्छति॥ ४३॥

यो जनः यत्र नगरादौ स्वार्थे (निवसन् सन्) सिद्धयङ्ग-त्वेन बद्धनिर्बन्धवास्तव्यो भवन् आस्ते तिष्ठति स तस्मिन् रतिं कुरुते अन्यस्मान्निवृत्तचित्त्वात् निर्वृतिं लभते। तथा यश्च यत्र रमते निर्वाति स तस्मादन्यत्र न गच्छति ततोऽन्यत्र न याति इति न प्रसिद्धं प्रतीतिं।

समाधितन्त्र, श्लोक-३८ में कहा है कि —

आत्मदेहान्तरज्ञानजनिताह्लादनिर्वृत्तः।
तपसा दुष्कृतं घोरं भुञ्जानोऽपि न खिद्यते॥

अर्थात्, *आत्मा और देह के भेदविज्ञान से उत्पन्न हुए आह्लाद से (आनन्द से) जो आनन्दित है, वह (योगी) तप द्वारा भयानक दुष्कर्म को भोगता होने पर भी, खेद को प्राप्त नहीं होता।*

यहाँ, शिष्य कहता है कि यह किस प्रकार ? भगवान! मुझे आश्चर्य होता है कि ऐसी अवस्थान्तर (विभिन्न-विलक्षण अवस्था) किस प्रकार सम्भव है ?

गुरु कहते हैं — धीमान! समझ।

जहाँ वास करने लगे, रमे उसी में चित्त।
जहाँ चित्त रमने लगे, हटे नहीं फिर प्रीत॥ ४३॥

अन्वयार्थ :- **(यः)** जो **(यत्र)** जहाँ **(निवसन् आस्ते)** निवास करता है, **(सः)** वह **(तत्र)** वहाँ **(रतिं कुरुते)** रति करता है और **(यः)** जो **(यत्र)** जहाँ **(रमते)** रमता है **(सः)** वह **(तस्मात्)** वहाँ से अन्यत्र **(न गच्छति)** नहीं जाता।

टीका :- जो मनुष्य जहाँ, अर्थात् नगरादि में स्वार्थ के लिए, अर्थात् किसी (प्रयोजन की) सिद्धि के लिए (बन्धुजनों के) आग्रह से निवासी होकर रहता है, वह वहाँ अन्य तरफ से चित्त हटा लिया होने से, आनन्द प्राप्त करता है (अनुभव करता है) और जो जहाँ इस प्रकार आनन्द अनुभव करता है, वह वहाँ से अन्यत्र नहीं जाता,

अतः प्रतीहि योगिनोऽध्यात्मं निवसतोऽननु-भूताऽपूर्वानंदाऽनुभवादन्यत्र वृत्त्यभावः स्यादिति ॥४३॥

अन्यत्राऽप्रवर्त्तमानश्चेदृक् स्यात् —

अगच्छंस्तद्विशेषाणामनभिज्ञश्च जायते।
अज्ञाततद्विशेषस्तु बद्धयेते न विमुच्यते॥ ४४॥

यह बात प्रसिद्ध है, प्रतीत है। इसलिए विश्वास कर कि — 'आत्मा में निवास करते योगी को अननुभूत (पूर्व में अनुभव नहीं किया हुआ) अपूर्व आनन्द का अनुभव होता होने से, उसको अन्यत्र वृत्ति का अभाव होता है (अर्थात्, अध्यात्म के सिवाय अन्यत्र प्रवृत्ति नहीं होती)।'

भावार्थ :- *जो मनुष्य, जिस शहर, नगर अथवा ग्राम में रहता है, उसको उस स्थान के प्रति इतना ममत्वभाव-रतिभाव हो जाता है कि उसको वहाँ ही रमना रुचता है, वहाँ ही आनन्द आता है, उससे वह स्थान छोड़कर अन्यत्र जाना नहीं रुचता; इसी प्रकार आत्मस्वरूप में स्थित योगी को-रमते योगी को आत्मा में ऐसा अपूर्व आनन्द आता है कि उसको आत्मा में ही विहार करना रुचता है; अन्य पदार्थों में विहरने की वृत्ति नहीं होती, क्योंकि निजात्मरस के अनुभव के समक्ष, बाह्यपदार्थ तथा विषय-भोग सब उसको नीरस और दुःखदायी लगते हैं।*

अन्यत्र नहीं प्रवर्तता हो, तब वह ऐसा होता है :—

वस्तु विशेष विकल्प को, नहीं करता मतिमान।
स्वात्म-निष्ठता से छुटे, नहीं बँधता गुणवान॥ ४४॥

अन्वयार्थ :- **(अगच्छन्)** (अन्यत्र) नहीं जाता (अन्यत्र प्रवृत्ति नहीं करता योगी), **(तद्विशेषाणाम्)** उनके विशेषों को (अर्थात्, देहादि के विशेषों का सौन्दर्य, असौन्दर्य आदि धर्मों का) **(अनभिज्ञः च जायते)** अनभिज्ञ रहता है (उनसे अनजान रहता है) और **(अज्ञाततद्विशेषः)** सौन्दर्य-असौन्दर्य आदि विशेषों का अनजान होने से **(न बद्धयते)** वह बँधता नहीं, **(तु विमुच्यते)** अपितु विमुक्त होता है।

स्वात्मतत्त्वनिष्ठोऽन्यत्र अगच्छन् अप्रवर्तमानः तद्विषेणां तस्य स्वात्मनोऽन्यस्य देहादेर्विशेषाणां सौंदर्यासौंदर्यादिधर्माणां अनभिज्ञश्च आभिमुख्येनाऽप्रतिपत्ता च जायते-भवति। तु पुनः अज्ञाततद्विशेषः तत्राऽजा (ज्ञा) यमानरागद्वेषत्वात् कर्मभिः न बध्यते। किं तर्हि विमुच्यते विशेषेण व्रताद्यनुष्ठातृभ्योऽतिरेकेण तैर्मुच्यते॥४४॥

किं च —

टीका :- स्वात्मतत्त्व में स्थिर हुआ योगी, जब अन्यत्र नहीं जाता-प्रवृत्ति नहीं करता, तब वह स्वात्मा से भिन्न शरीरादि के विशेषों से, अर्थात् सौन्दर्य-असौन्दर्य आदि धर्मों से अनभिज्ञ (अजान) रहता है, अर्थात् उन्हें जानने में अभिमुख (उत्सुक) नहीं होता और उन विशेषों से वह अज्ञात होने से, उसको उनमें राग-द्वेष उत्पन्न नहीं होता; इसलिए वह कर्मों से नहीं बँधता। तब क्या होता है? विशेषरूप से व्रतादि का अनुष्ठान (आचरण) करनेवालों की अपेक्षा, वह अतिरेक से (अतिशयरूप से) उनसे (कर्मों से) मुक्त होता है।

भावार्थ :- *आत्मस्वरूप में स्थिर योगी को आत्मा के अलावा शरीरादि बाह्यपदार्थों में प्रवृत्ति नहीं होती; इस कारण उसको उन पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट की कल्पना का अभाव होने से, राग-द्वेष उत्पन्न नहीं होता और बन्ध के कारणरूप राग-द्वेष के अभाव में, वह कर्मों से नहीं बँधता, अपितु उसको अनेकगुनी निर्जरा होती है।*

ज्ञानी को व्रतादि के आचरण का विकल्प, वह शुभराग है; उससे तो आस्रव -बन्ध ही होता है परन्तु उस काल में उसके साथ जो शुद्धपरिणति है, वही निर्जरा का वास्तविक कारण है। उसमें योगियों को निर्विकल्पदशा में उससे भी अधिक निर्जरा होती है।

तथा :—

पर तो पर है दुःखद है, आत्मा सुखमय आप।
योगी करते हैं अतः, निज-उपलब्धि अमाप॥ ४५॥

अन्वयार्थ :- **(परः परः)** पर, पर ही है; **(ततः दुखं)** उसमें दुःख होता है और **(आत्मा आत्मा एव)** आत्मा, आत्मा ही है; **(ततः सुखम्)** उससे सुख

परः परस्ततो दुःखमात्मैवात्मा ततः सुखम्।
अतएव महात्मानस्तन्निमित्तं कृतोद्यमाः ॥ ४५ ॥

परो देहादिरर्थः पर एव, कथंचिदपि तस्याऽऽत्मीकर्त्तुम-शक्यत्वात् यतश्चैवं ततस्तस्मादात्मन्यारोप्यमाणाद् दुःखमेव स्यात् तद्वारत्वाद् दुःख-निमित्तानां प्रवृत्तेः। तथा आत्मा आत्मैव स्यात् तस्य कदाचिदपि देहादिरूपत्वाऽनुपादानात्। यतश्चैवं ततः तस्मात् सुखं स्यादुःखनिमित्तनां तस्याविषयत्वात्। यतश्चैवं, अतएव महात्मानस्तीर्थंकरादयः तन्निमित्तं आत्मार्थं कृतोद्यमाः विहिततवानुष्ठानाभियोगाः सञ्जाताः।

होता है; **(अतएव)** इसलिए ही **(महात्मानः)** महात्माओं ने **(तन्निमित्तं)** उसके निमित्त (सुख के लिए) **(कृतोद्यमाः)** उद्यम किया है।

टीका :- पर, अर्थात् देहादिक पदार्थ, पर ही हैं क्योंकि उन्हें किसी भी प्रकार से अपना करना अशक्य है। ऐसा होने से उनका आत्मा में आरोप करने से (उन्हें आत्मा मानने से) दुःख ही होता है क्योंकि उसके द्वारा (आरोप द्वारा) दुःख के कारणों की प्रवृत्ति होती है; तथा आत्मा, आत्मा ही है क्योंकि वह कभी भी देहादिरूप नहीं होता, (देहादिरूप ग्रहण नहीं करता)। ऐसा होने से उससे सुख होता है क्योंकि वह दुःख के करणों का अविषय है। ऐसा होता है, इसलिए तीर्थङ्करादि महापुरुषों ने उसके लिए, अर्थात् आत्मार्थ उद्यम किया है, अर्थात् शास्त्र विहित तपों के अनुष्ठान में (आचरण में) अभियोग (कृत प्रयत्न) बने हैं ॥४५ ॥

भावार्थ :- *शरीर, स्त्री, पुत्र, मित्रादि आत्मा से भिन्न परपदार्थ हैं; वे कभी आत्मारूप नहीं होते, तो भी अज्ञानी उनमें आत्मबुद्धि करके, उनके संयोग-वियोग में सुख-दुःख की कल्पना करके दुःखी होता है।* ***संयोगानां वियोगोहिभविताहिनियोगतः*** *संयोगी पदार्थों का, नियम से वियोग होता है; इसलिए संयोगी शरीरादि परपदार्थों के प्रति होनेवाला अनुराग, दुःख का कारण है।*

आत्मा, आत्मा ही है; वह कभी देहादिरूप नहीं होता; इसलिए वह दुःख का कारण नहीं, अपितु सुखरूप है; इसलिए तीर्थङ्करादि महापुरुषों ने आत्मस्वरूप में स्थिर होने के लिए निश्चयतप द्वारा उद्यम किया है।

अथ परद्रव्यानुरागे दोषं दर्शयति —

अविद्वान्पुद्गलद्रव्यं योऽभिनन्दति तस्य तत्।
न जातु जन्तोः सामीप्यं चतुर्गतिषु मुञ्चति॥ ४६ ॥

यः पुनरविद्वान् हेयोपादेयतत्त्वानभिज्ञः पुद्गलद्रव्यं देहादिकमभिनंदति श्रद्धत्ते आत्मात्मीयभावेन प्रतिपद्यते तस्य जन्तोः जीवस्य तत् पुद्गलद्रव्यं चतुर्गतिषु चतसृषु नारकादिगतिषु सामीप्यं प्रत्यासत्तिं संयोगसंबंधं जातु कदाचिदपि न मुञ्चति त्यजति॥४६ ॥

अब, परद्रव्यों के अनुराग में दोष बतलाते हैं :—

करता पुद्गल द्रव्य का, अज्ञ समादर आप।
तजे न चतुर्गति में अतः, पुद्गल चेतन-साथ॥ ४६ ॥

अन्वयार्थ :- **(यः अविद्वान्)** जो (हेय-उपादेय तत्त्वों को नहीं जाननेवाला) अविद्वान्, **(पुद्गलद्रव्यं)** पुद्गलद्रव्य को (शरीरादि को) **(अभिनन्दति)** अभिनन्दता है-श्रद्धता है (अर्थात्, उन्हें अपना स्वरूप मानता है), **(तस्य जन्तोः)** उस बिचारे जीव को साथ के **(सामीप्यं)** संयोग-सम्बन्ध को **(तत्)** वह (पुद्गल) **(चतुर्गतिषु)** नरकादि चार गतियों में **(जातु न मुञ्चति)** कभी भी नहीं छोड़ता।

टीका :- और जो अविद्वान है, अर्थात् हेय-उपादेय तत्त्वों से अनभिज्ञ है, वह पुद्गलद्रव्य को, अर्थात् देहादिक को अभिनन्दता है-श्रद्धता है, अर्थात् उनको आत्मभाव से और आत्मीयभाव से (आत्मारूप और आत्मा का) मानता है, उस बिचारे जीव का समीपपना (प्रत्यासन्नपना-निकटता-संयोगसम्बन्ध) वह पुद्गलद्रव्य, नरकादि चार गतियों में कभी भी नहीं छोड़ता॥४६ ॥

भावार्थ :- *अज्ञानी जीव, शरीरादि पुद्गल को आत्मस्वरूप और आत्मा का स्वरूप मानता है; इसलिए पुद्गलद्रव्य चारों गतियों में आत्मा के साथ का सम्बन्ध नहीं छोड़ता; वह साथ का साथ ही रहता है।*

शरीरादि पुद्गलद्रव्य, अचेतन हैं; वे आत्मा से सर्वथा भिन्न हैं। उनके साथ की एकता सर्वथा हेय है परन्तु अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव को हेय-उपादेय का विवेक

किं स्वरूप परस्य किं भवति?

अथाह शिष्यः स्वरूपपरस्य किं भवतीति-सुगमम्।

गुरुराह —

आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य व्यवहारबहिः स्थितेः।
जायते परमानन्दः कश्चिद् योगेन योगिनः॥ ४७॥

नहीं होने से वह आत्मा से भिन्न पदार्थों में आत्मवृद्धि करता है, अर्थात् उनको आत्मस्वरूप मानता है। वह उनकी अनुकूलता-प्रतिकूलतारूप परिणति को देखकर, राग-द्वेष करता है और राग-द्वेषजनित बन्ध से उसको नरकादि चतुर्गतिरूप संसार में परिभ्रमण होता है। इस प्रकार जीव के साथ का पुद्गल का सम्बन्ध चालू रहता है; वह कभी नहीं टूटता।

समाधितन्त्र, श्लोक-१५ में कहा है कि — ***मूलं संसारदुःखस्य देह एवात्मधीस्ततः*** *अर्थात्, देह में ही आत्मवृद्धि करना, संसार के दुःख का कारण है।*

पुद्गल मेरा नहीं है; इसलिए मैं पुद्गल का कुछ भी नहीं कर सकता — ऐसा निर्णय करके, आत्मसन्मुख होना चाहिए, जिससे पुद्गल के साथ सम्बन्ध छूट जाए।

जीव के साथ रहना या नहीं रहना — ऐसा पुद्गल को तो कुछ ज्ञान नहीं है परन्तु जीव के विकार के और उसके (पौद्गलिककर्म के) निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है; इसलिए जब तक जीव, विकार करता है, तब तक यह सम्बन्ध नहीं छूटता।

अब, शिष्य कहता है — स्वरूप में तत्पर रहनेवाले को क्या (फल) प्राप्त होता है?

गुरु कहते हैं :—

ग्रहण-त्याग व्यवहार बिन, जो निज में लवलीन।
योगी को हो ध्यान से, परमानन्द नवीन॥ ४७॥

अन्वयार्थ :- (**आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य**) आत्मस्वरूप में स्थित हुए (लीन हुआ) (**व्यवहारबहिः स्थितेः**) तथा व्यवहार से दूर (बाहर) रहे हुए (**योगिनः**)

आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य आत्मनोऽनुष्ठानं देहादेर्व्यावर्त्य स्वात्मन्ये-वावस्थापनं तत्र निष्ठस्य तत्परस्य व्यवहारबहि:स्थितेः व्यवहारा-त्प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणाद्बहि:स्थितेः बाह्यस्य योगिनः ध्यातुर्योगेन स्वात्मध्यानेन हेतुना कश्चिद् वाचामगोचरः परमानन्दः परमोऽन-न्यसंभवी आनन्दः उत्पद्यते ॥४७॥

तत्कार्यमुच्यते —

योगी को **(योगेन)** योग से (आत्मध्यान से) **(कश्चित् परमानंदः)** कोई अनिर्वचनीय परम आनन्द **(जायते)** उत्पन्न होता है।

टीका :- आत्मा का अनुष्ठान, अर्थात् देहादिक से हटकर अपने आत्मा में ही अवस्थापन (निश्चित स्थिर रहना), उसमें तत्पर रहे हुए तथा प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप व्यवहार से बाहर (दूर) रहे हुए, ध्यान करनेवाले योगी को, योग से, अर्थात् अपने आत्मा के ध्यान से, कोई वाणी अगोचर तथा अन्य को असम्भव, ऐसा परम आनन्द उत्पन्न होता है ॥४७॥

भावार्थ :- *शारीरिक बाह्य पदार्थों की ओर का झुकाव हटाकर तथा प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप व्यवहार से दूर रहकर, जब योगी स्व-स्वरूप में लीन होता है, तब आत्मध्यान से उसको कोई अनिर्वचनीय परम आनन्द आता है।*

श्री देवसेनाचार्य ने 'तत्त्वसार', श्लोक-५८ में कहा है कि —

उभयविंणट्ठें णिय उवलद्धे सुसुद्ध ससरूवे।
बिलसइ परमाणंदो जोईणं जोयसत्तीए॥

अर्थात्, राग-द्वेषरूप उभयभाव (परिणाम) विनष्ट होने पर तथा योगशक्ति द्वारा अपने विशुद्धस्वरूप की प्राप्ति होने पर, योगी को योगशक्ति के द्वारा परम आनन्द की प्राप्ति होती है।

वास्तव में राग-द्वेष का अभाव ही, परम आनन्द की प्राप्ति का मूल कारण है।

उसका (आनन्द का) कार्य कहते हैं :—

आनन्दो निर्दहत्युद्धं कर्मेन्धनमनारतम्।
न चाऽसौ खिद्यते योगी बहिर्दुःखेष्वचेतनः ॥ ४८ ॥

स पुनरानन्दः उद्धं प्रभूतं कर्मेन्धनं अनारतं सन्नतं (कर्म-संततिं) निर्दहति। वह्निरिंधनं यथा। किं च असौ आनन्दाविष्टो योगी बर्हिदुःखेषु परीषहोपसर्गक्लेशेषु अचेतनः असंवेदनः स्यात् तत एव न खिद्यते न संक्लेशं याति॥४८॥

साधु बहिर्दुःख में रहे, दुःख-संवेदन हीन।
करते परमानन्द से, प्रचुर कर्म प्रक्षीण॥ ४८॥

अन्वयार्थ :- **(सः आनंदः)** वह आनन्द [आत्मा में उत्पन्न हुआ आनन्द] **(उद्धं कर्मेन्धनं)** प्रचुर कर्म ईंधन को **(अनारतं)** निरन्तर **(निर्दहति)** जला देता है और **(असौ योगी च)** वह [आनन्दमग्न] योगी **(बहिर्दुःखेषु)** बाहर के दुःखों में **(अचेतनः)** अचेतन रहने से [बाहर के दुःखों से अनजान होने से] **(न खिद्यते)** खेद नहीं पाता।

टीका :- और, वह आनन्द प्रचुर कर्म-सन्तति को जला देता है; जैसे अग्नि, ईंधन को जलाती है वैसे, और वह आनन्दमग्न योगी, बाहर के दुःखों में, अर्थात् परीषह-उपसर्ग सम्बन्धी क्लेशों में अचेतन, अर्थात् संवेदनरहित हो जाता है (दुःख के निमित्तरूप पदार्थों की ओर लक्ष्य नहीं रहता); इसलिए उसको खेद नहीं होता, अर्थात् वह संक्लेश को प्राप्त नहीं होता॥४८॥

भावार्थ :- *जैसे अग्नि, ईंधन को जला देती है, उसी तरह आत्मा में उत्पन्न हुआ परमानन्द, कर्म-सन्तति को (कर्म के समूह को) भस्म कर देता है; आनन्दमग्न योगी, परीषह-उपसर्गादि के बाह्य दुःखों में अचेतन रहने से, अर्थात् उसको उन दुःखों का अनुभव नहीं होने से, खेद-खिन्न नहीं होता।*

योगी को आत्मा की एकाग्रता से-ध्यान से प्रचुर कर्मों की निर्जरा होती है और ध्यानावस्था में परमानन्द का ऐसा वचन-अगोचर स्वाद आता है कि उसको उस स्वाद में बाह्य संयोगों का कुछ भी वेदन नहीं होता।

यस्मादेवं तस्मात् —

अविद्याभिदुरं ज्योतिः परं ज्ञानमयं महत्।
तत्प्रष्टव्यं तदेष्टव्यं तद्द्रष्टव्यं मुमुक्षुभिः॥ ४९॥

तत् आनंदस्वभावं ज्ञानमयं स्वार्थावभाषात्मकं परं उत्कृष्टं अविद्याभिदुरं विभ्रमच्छेदकं महत् विपुलं इन्द्रादीनां पूज्यं वा ज्योतिः प्रष्टव्यंमुमुक्षुभिःर्गुर्वादिभ्योऽनुयोक्तव्यं। तथा तदेव एष्टव्यं अभिलषणीयं, तदेव च द्रष्टव्यमनुभवनीयं॥४९॥

ऐसा है इसलिए :—

करे अविद्या-नाश वह, ज्ञान-ज्योति उत्कृष्ट।
पूछो चाहो अनुभवो, है मुमुक्षु को इष्ट॥ ४९॥

अन्वयार्थ :- (**अविद्याभिदुरं**) अविद्या को दूर करनेवाली (**महत् परं**) महान उत्कृष्ट (**ज्ञानमयं ज्योतिः**) ज्ञानमय ज्योति है, (**मुमुक्षुभिः**) मुमुक्षुओं को (**तत् प्रष्टव्यं**) उसके विषय में पूछना चाहिए, (**तत् एष्टव्यं**) उसकी वाँछा करनी चाहिए और (**तद् द्रष्टव्यं**) उसका अनुभव करना चाहिए।

टीका :- वह आनन्दस्वभावी, ज्ञानमयी, स्वार्थ को प्रकाशनेवाली, महान उत्कृष्ट, अविद्या को दूर करनेवाली, विभ्रम का नाश करनेवाली, महाविपुल, इन्द्रादिक से भी पूज्य — ऐसी ज्योति है। मुमुक्षुओं को गुरु आदि से उसके विषय में पूछताछ करनी चाहिए, उसकी ही अभिलाषा करनी चाहिए और उसी का अनुभव करना चाहिए॥४९॥

भावार्थ :- *ज्ञानमय ज्योति, अज्ञान विनाशक है, स्व-परप्रकाशक, उत्कृष्ट है और इन्द्रों को भी पूज्य है; इसलिए मोक्षाभिलाषी जीवों को प्रति समय उसका ही विचार करना चाहिए, उस विषय में ही गुरु आदि से पूछताछ करना, निरन्तर उसी की अभिलाषा करनी और उसी का अनुभव करना चाहिए।*

समाधितन्त्र श्लोक ५३ में कहा है कि —

तद् ब्रूयात्तत्परान् पृच्छेत्तदिच्छेत्तत्परो भवेत्।
येनाऽविद्यामयं रूपं त्यक्त्वा विद्यामयं व्रजेत्॥

किं बहुनेति ?

एवं व्युत्पाद्यं विस्तरतो व्युतपाद्य उक्तार्थतत्त्वं परमकरुणया संगृह्य तन्मनसि संस्थापयितुकामः सूरिरिदमाह —

हे सुमते! किं कार्यं बहुनोक्तेन हेयोपादेयतत्त्वयोः संक्षेपेणापि प्राज्ञचेतसि निवेषयितुं शक्यत्वात् इति भावः।

जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्य इत्यसौ तत्त्वसङ्ग्रहः।
यदन्यदुच्यते किञ्चित्सोऽस्तु तस्यैव विस्तरः॥ ५०॥

जीवो अन्यः देहादेर्भिन्नः पुद्गलश्च देहादिश्च अन्यः जीवाद्भिन्नः इति इत्यानेव असौ विधीयते तत्त्व संग्रहः आत्मन-स्तत्त्वस्य भूतार्थस्य संग्रहः सामस्त्येन ग्रहणं निर्णयः स्यात्।

अर्थात्, *योगियों को आत्मज्योति की ही बात करना, अन्य से उस सम्बन्धी ही पूछना, उसकी ही इच्छा करनी और उसमें ही लीन होना चाहिए; जिससे वह अविद्या का त्याग करके, ज्ञानमय स्वभाव को प्राप्त करे।*

इस प्रकार समझाकर, विस्तार से समझाकर, अब आचार्य कहे हुए तत्त्व को परम करुणा से संक्षेप में कहकर, शिष्य के मन में बैठाने की इच्छा से कहते हैं :—

अधिक कहने से क्या? हे सुमते-सुबुद्धिवाले! बहुत बोलने से क्या? क्योंकि हेय-उपादेय तत्त्वों को संक्षेप में भी बुद्धिमान के हृदय में उतारना शक्य है — ऐसा भाव है।

जीव जुदा पुद्गल जुदा, यही तत्त्व का सार।
अन्य कुछ व्याख्यान सब, याही का विस्तार॥ ५०॥

अन्वयार्थ :- **(जीवः अन्यः)** जीव भिन्न है और **(पुद्गलः च अन्यः)** पुद्गल भिन्न है, **(इति असौ तत्त्वसंग्रहः)** इतना ही तत्त्व कथन का सार है **(यत् अन्यत् किंचित् उच्यते)** (इसके अलावा) अन्य जो कुछ कहा जाता है **(सः तस्य एव विस्तरः अस्तु)** वह इसका ही विस्तार है।

टीका :- जीव, शरीरादि से भिन्न है और शरीरादि, जीव से भिन्न हैं, इतना ही विधान करना (कथन करना), वह आत्मतत्त्व का भूतार्थ-सत्यार्थ का संग्रह है, अर्थात् सम्पूर्णरूप से (उसका) ग्रहण-निर्णय है। इस तत्त्वसंग्रह के अतिरिक्त जो कुछ

यतः पुनः इतस्तत्त्वसंग्रहात् अन्यत् अतिरिक्त किंचित् तद्भेद-प्रभेदादिकं विस्ताररुचि-शिष्यापेक्षयाऽऽचार्यैः उच्यते। स तस्यैव विस्तारो व्यासः अस्तु तमपि वयमभिनंदामः इति भावः ॥५०॥

आचार्यः शास्त्राध्ययनस्य साक्षात्पारम्पर्येण च फलं प्रतिपादयति —

इष्टोपदेशमिति सम्यगधीत्य श्रीमान्, मानापमानसमतां स्वमताद् वितन्य।
मुक्ताग्रहो विनिवसन्सजने वने वा, मुक्तिश्रियं निरुपमामुपयाति भव्यः॥ ५१ ॥

भेद-प्रभेदादि हैं, वे विस्तार रुचिवाले शिष्य की अपेक्षा से आचार्यों ने जो कहा है, उसका ही विस्तार है। हम उसका भी अभिनन्दन करते हैं (हम उसको भी श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं) — ऐसा भाव है॥५०॥

भावार्थ :- *जीव और पुद्गल एक-दूसरे से भिन्न हैं; इसलिए जीव, पुद्गल का और पुद्गल, जीव का कुछ नहीं कर सकता, तथापि वे एक-दूसरे का कुछ करते हैं — ऐसा माना जाए तो दोनों द्रव्यों की भिन्नता नहीं रहती और अभिप्राय में द्रव्यों का अभाव होता है। जब तक ऐसी मान्यता होती है, तब तक जीव को भेदज्ञानरूप परिणति नहीं होती।*

आत्मसन्मुख होकर भेदज्ञान द्वारा आत्मतत्त्व का निर्णय करना — यह तत्त्व कथन का सार है। आचार्यों ने विस्ताररुचिवाले शिष्यों को लक्ष्य में रखकर जो भेद-प्रभेद से कथन किया है, वह सब इसका (इस तत्त्वसंग्रह का) ही विस्तार है। टीकाकार उसका अभिनन्दन करते हैं, सहर्ष स्वीकार करते हैं।

आचार्य, शास्त्र के अध्ययन का साक्षात् तथा परम्परा से प्राप्त होनेवाले फल का प्रतिपादन करते हैं :—

भव्य 'इष्ट-उपदेश' सुन, तजि हठ माना मान।
आत्मज्ञान-समता ग्रहे, ले अनुपम निर्वाण॥ ५१ ॥

अन्वयार्थ :- **(इति)** इस प्रकार **(इष्टोपदेशं सम्यक् अधीत्य)** इष्टोपदेश का अच्छी तरह से अभ्यास करके **(धीमान् भव्यः)** बुद्धिशाली भव्य **(स्वमतात्)**

इत्यनेन प्रकारेण इष्टोपदेशं, इष्टं सुखं तत्कारणत्वान्मोक्ष-स्तदुपायत्वाच्च स्वात्माध्यानं उपदिश्यते-यथावत्प्रतिपाद्यते अनेनास्मिन्निति वा 'इष्टोपदेशो' नाम ग्रन्थस्तं सम्यग् व्यवहार-निश्चयाभ्यां अधीत्य पठित्वा चिंतयित्वा च धीमान् हिताहितपरीक्षादक्षो भव्योऽनन्तज्ञानाद्या-विर्भावयोग्यो जीव मुक्तिश्रियं अनंतज्ञानादिसम्पदं निरुपमां अनौपम्यां (उपयाति) प्राप्नोति। किं कुर्वन् ? मुक्ताग्रहः बर्जितबहिरर्थाभिनिवेशः सन् सजने ग्रामादौ वने ऽरण्येवा विनिवसन् विधिपूर्वकं तिष्ठन्। किं कृत्वा ? वितन्य विशेषेण विस्तार्य। कां ? मानोऽपमानसमतां माने महत्त्वाधाने अपमाने च महत्वखण्डने समतां रागद्वेषयोरभावं। कस्मद्धेतोः ? स्वमतात् इष्टोपदेशाध्ययनचिंतनजनितात् आत्मज्ञानात्।

अपने आत्मज्ञान से (**मानापमानसमतां**) मान-अपमान में समता (**वितन्य**) का विस्तार करके, (**मुक्ताग्रहः**) आग्रह छोड़कर, (**सजने वने वा**) नगर में अथवा वन में (**विनिवसन्**) निवास करता हुआ (**निरुपमां मुक्तिश्रियम्**) उपमारहित मुक्तिरूपी लक्ष्मी को (**उपयाति**) प्राप्त करता है।

टीका :- इति-इस प्रकार इष्टोपदेश, अर्थात् इष्ट यानी सुख, उसका कारण मोक्ष और उसके उपायरूप स्वात्मा का ध्यान — ऐसा जिसमें और जिससे यथावत् उपदेश किया गया है-उसका प्रतिपादन किया गया है, वह इष्टोपदेश नाम का ग्रन्थ है।

उसका सम्यक् प्रकार से, अर्थात् व्यवहार-निश्चय द्वारा अभ्यास करके-पठन करके-चिन्तन करके, धीमान, अर्थात् हित-अहित की परीक्षा करने में निपुण — ऐसा भव्य, अर्थात् कि अनन्त ज्ञानादि प्रगट कर सके — ऐसी योग्यतावाला जीव, उपमारहित, अर्थात् अनुपम अनन्त ज्ञानादि सम्पदारूप मुक्तिलक्ष्मी को प्राप्त करता है। क्या करके ? आग्रह छोड़ करके, अर्थात् बाह्य पदार्थों में अभिनिवेश (मिथ्या मान्यता) छोड़ करके; ग्रामादिक में अथवा वन में निवास करता हुआ, अर्थात् विधिपूर्वक रहता हुआ (वह मोक्ष लक्ष्मी को प्राप्त करता है)।

क्या करके ? निःशेषरूप से विस्तार करके-फैला करके। क्या (विस्तार करके) ? मान में, अर्थात् महत्ता-प्राप्ति में और अपमान में, अर्थात् महत्त्व के खण्डन में (मानभङ्ग में) राग-द्वेष के अभावरूप समता को (विस्तार करके; मान-अपमान के प्रसङ्ग में समताभाव रखकर)।

उक्तं च (समाधितंत्रे) —

''यदा मोहात्प्रजायेते राग-द्वेषौ तपस्विनः।
तदैव भावयेत्स्वस्थमात्मानं साम्यतः क्षणात्॥''

इति श्रेयः।

किस कारण से? स्वमत से, अर्थात् इष्टोपदेश का अध्ययन और चिन्तन से उत्पन्न हुए आत्मज्ञान से (मान-अपमान के प्रसङ्ग में समताभाव रखकर....मुक्ति लक्ष्मी को प्राप्त करता है)।

(समाधितन्त्र श्लोक ३९ में) कहा है कि — **'यदामोहात्प्राजायेते.....'**

जब तपस्वी को मोह के कारण राग-द्वेष उत्पन्न हो, तभी उसको अपने में स्थित (परमशुद्ध) आत्मा की भावना करनी, जिससे क्षणभर में राग-द्वेष शान्त हो जाएँगे।

भावार्थ :- *उस इष्टोपदेश में इष्ट, अर्थात् मोक्ष और उपदेश, अर्थात् उसके उपायस्य आत्मध्यान, उसका निरूपण-प्रतिपादन किया गया है।*

ग्राम अथवा वन में बसता हुआ जो भव्यजीव, इस इष्टोपदेश का व्यवहार -निश्चय द्वारा सम्यक् प्रकार से अध्ययन-चिन्तवन करके, हिताहित का विवेक करता है तथा बाह्य पदार्थों में ममत्व का त्याग करके, मान-अपमान के प्रसङ्ग में समताभाव रखता है, वह इष्टोपदेश के अध्ययन-चिन्तन से प्राप्त किये गये आत्मज्ञान द्वारा अनुपम मोक्षसुख को प्राप्त करता है।

(इति इष्टोपदेश टीका)

टीका कर्तुः प्रशस्तिः

विनेयेन्दु-मुने-र्वाक्याद्भ-व्यानु-ग्रह-हेतुना।
इष्टोपदेशटीकेयं कृताशाधरधीमता॥ १ ॥
उपशम इव मूर्तः सागरेन्दोर्मुनीन्द्रा,
दजनि विनयचंद्रः सच्चकोरैकचन्द्रः।
जगदमृतसगर्भाः शास्त्रसंदर्भगर्भाः,
शुचिचरितवरिष्णोर्यस्य धिन्वन्ति वाचः॥ २ ॥
जयंति जगतीवन्द्या श्रीमन्नेमिजिनाङ्घ्रयः।
रेणवोऽपि शिरोराज्ञामारोहंति यदाश्रिताः॥ ३ ॥

इति श्रीपूज्यपादस्वामिविरचितः इष्टोपदेशः समाप्ताः।

टीका प्रशस्ति

जिनचन्द नामक मुनि के वाक्यों का सहारा लेकर, भव्य प्राणियों के उपकार के हेतु, श्रीमान् (पण्डित) आशाधर ने इष्टोपदेश की यह टीका की है॥१॥

सागरचन्द्र नामक मुनीन्द्र के विनयचन्द्र हुए, वे मानो कि उपशम (शान्ति) की मूर्ति थे, सज्जन पुरुषोंरूपी चकोर पक्षियों के लिए एक चन्द्रमा के समान थे; उन पवित्र चारित्रवान जिनमुनि के अमृतमयी (अनेक) शास्त्रों के सारगर्भित वचन जगत को तृप्त करते हैं-प्रसन्न करते हैं॥२॥

जगतवंद्य श्रीमान् नेमिनाथ भगवान के चरण कमल जयवन्त वर्तते हैं, जिनके (चरण कमल के) आश्रित धूल भी राजाओं के मस्तक पर जा विराजती है (अर्थात्, राजा भी जिनके चरण कमल में मस्तक झुकाते हैं)॥३॥

इति श्री पूज्यपादस्वामी विरचित इष्टोपदेश समाप्त।

इष्टोपदेश पद्यानुक्रम सूची

अ

अगच्छंस्तद्विशेषाणा ४४
अज्ञानोपास्तिरज्ञानं २३
अभवच्चित्तविक्षेप- ३६
अविद्याभिदुरं ज्योतिः ४९
अविद्वान् पुद्गल द्रव्यं ४६

आ

आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य ४७
आनन्दो निर्दहत्युद्धं ४८
आयुर्वृद्धि क्षयोत्कर्ष- १५
आरम्भेतापकान्प्राप्ता १७

इ

इच्छत्येकान्तसम्वासं ४०
इतश्चिन्तामणिर्दिव्या २०
इष्टोपदेशमितिसम्यगधीत्यधीमान् ५१

ए

एकोऽहं निर्ममः शुद्धो २७

क

कटस्य कर्ताहमिति २५
कर्मकर्महिताबन्धि ३१
किमिदं कीदृशं कस्य ४२

ग

गुरुपदेशादभ्यासात् ३३

ज

जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्य ५०

त

त्यागाय श्रेयसे वित्त- १६

द

दिग्देशेभ्यः खगा एत्य ९
दुःखसन्दोह भागित्वं २८
दुरर्ज्येनासुरक्षेण १३

न

न मे मृत्युः कुतो भीतिः २९
नाज्ञो विज्ञत्वमायति ३५

निशामयति निःशेष- ३९

प

परीषहाद्यविज्ञानाद्- २४
परोपकृतिमुत्सृज्य ३२
परः परस्ततो दुःख ४५

ब

बध्यते मुच्यते जीवः २६
ब्रुवन्नपि हि न ब्रूते ४१

भ

भवन्ति प्राप्य यत्संग- १८
भुक्तोज्झिता मुहुर्मोहात् ३०

म

मोहेन संवृतं ज्ञानं ७

य

यज्जीवस्योपकाराय १९
यत्र भावः शिवं दत्ते ४
यथा यथा न रोचन्ते ३८
यथा यथा समायाति ३७
यस्य स्वयं स्वभावाप्ति- १
योग्योपादान योगेन २
यो यत्र निवसन्नस्ते ४३

र

रागद्वेषद्वयी दीर्घ ११

व

वपुर्गृहं धनं दाराः ८
वरं व्रतैः पदं दैवं ३
वासनामात्रमेवैतत् ६
विपत्तिमात्मनो मूढः १४
विपद्भवपदावर्ते १२
विराधकं कथं हंत्रे १०

स

संयम्य करणग्राम- २२
स्वसम्वेदने सुव्यक्त- २१
स्वस्मिन् सदभिलाषित्वाद् ३४

ह

हृषीकजमनातंकं ५

प्रस्तुत संस्करण के प्रकाशन में प्राप्त सहयोग राशि
10,000/- पण्डित कैलाशचन्द जैन परिवार, अलीगढ़